प्रकाशक :—
श्रीकृष्ण पाण्डेय
भारतीय पुस्तक एजेन्सी
११, नारायणप्रसाद बाबू लेन
कलकत्ता ।

प्रथम बार २०००
संवत् १९७९

मुद्रक :—
महादेव प्रसाद सेठ
बालकृष्ण प्रेस
१२, शंकरघोष लेन,
कलकत्ता ।

विनय

महात्मा अरविन्द घोषकी ज्ञान-गरिमा प्रगाढ़ पाण्डित्य-पूर्ण भाव-प्रवणता एवं निस्वार्थ सच्ची देश सेवासे हिन्दी संसार भली भांति परिचित है। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं महापुरुषकी कृति है। सन् १६०८ ई० में एक वर्ष, कलकत्तेके अलीपुर जेलके कारागृहमें निवास करनेके समय उन्होंने जो कुछ अनुभव किया उसका सर्वसाधारणमें प्रचार करनेके लिये मुक्त होकर "कर्मयोगिन" (अंग्रेजी) और धर्म, (बङ्गला) नामक साप्ताहिक समाचार पत्र निकाला। उसमें आपने खोये हुए वैदिक आदर्शों के पुनरुद्धार करनेका मन्त्र वतलाते हुए उससे आलोकित होनेवाली गीताकी नयी व्याख्या धारावाहिक रुपमें 'धर्म' द्वारा निकालना प्रारम्भ किया। पर साधनाका उपयुक्त स्थान खोजकर निर्जन निवास करने का आदेश पा वङ्गाल छोड़कर ... चला जाना पड़ा। इसीसे यह पुस्तक असम्पूर्ण रह गयी।

सौभाग्यसे यह पुस्तक मुझे अवलोकनार्थ मिली। ... लेखकके एक एक अनूठे दार्शनिक तत्व-विचार ऐसे ... हुए कि मैं ओत-प्रोत हो गया। प्रवल इच्छा हुई कि ऐसे ... भावोंसे मातृ भाषा हिन्दी अलंकृत हो सकती है अतः ... करूं। आजसे एक वर्ष पूर्व मैंने अनुवाद कर डाला ... फ़ार्म छप भी गये थे, पर कई झंझटोंसे मेरे सुहृद ...

चन्द्र नाहटाके बीकानेर जानेके कारण पूर्ण न हो सकी। मेरे अभिन्न हृदयी पं श्रीकृष्ण पाण्डेयके अनुग्रहसे आज पूर्ण होनेकी बारी आई है एक तो बंगभाषासे हिन्दीमें अनुवाद करनेका यह मेरा प्रथम प्रयास है, दूसरे विषय दार्शनिक होनेके कारण सम्भव है अनुवादमें कुछ त्रुटियां रह गई हों। आशा और प्रार्थना है कि साहित्यानुरागी महानुभाव भाव-प्रचुरतामें तल्लीन हो छोटी मोटी अशुद्धियोंपर ध्यान न देंगे।

साहित्याश्रम
पो० कछवा, मिर्जापुर
१४-१२-१६२२ ई०

विनीतः—
देवनारायण द्विवेदी

प्रकाशकका वक्तव्य ।

मेरी बहुत दिनोंसे प्रबल आकांक्षा थी कि महात्मा अरविन्द घोषकी पुस्तकें हिन्दीमें छापूं । कई कारणोंसे इस विचारको कार्य रूपमें परिणत न कर सका । परमात्माकी दयासे वह सब बाधायें दूर हुई और आज मैं अपने उदार पाठकोंके समक्ष "गीता की भूमिका" लेकर उपस्थित हुआ हूँ । प्रस्तुत पुस्तक कैसी है, इस विषयमें मेरा कुछ कहना" सूर्यको दीपक दिखाना है । आशा है सहृदय पाठक मेरे उत्साहको बढायेंगे । अन्तमें मैं अपने मित्र और ऐजेंसीके प्राण पं० देव नारायणजी द्विवेदीको धन्यवाद देता हू जिन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर इसका अनुवाद किया ।

विनीत—

प्रकाशक ।

॥ श्रीः ॥

गीताकी भूमिका

प्रस्तावना ।

गीता संसारकी सर्वश्रेष्ठ धर्म्म पुस्तक है। गीतामें जिस ज्ञानकी संक्षिप्त व्याख्या हुई है, वह अन्तिम और गुह्यतम ज्ञान है, गीतामें जिस धर्मनीतिका वर्णन है, सब धर्मनीतियां उसी वर्णित नीतिके अन्तर्गत एवं उसीपर अवलम्बित हैं और गीतामें जिस कर्म्म-मार्गका प्रदर्शन कराया गया है, वही उन्नतोन्मुख संसारका सनातन मार्ग है।

गीता अमित रत्नप्रसु अथाह समुद्र है। आजीवन उस समुद्रकी गहराईका अनुसन्धान करते रहने पर भी थाह नहीं लगता और न तल ही मिलता है। सैकड़ों वर्षोंकी खोजसे भी उस अनन्त रत्न-भाण्डारका सहस्रांश प्राप्त करना भी दुष्कर है। अथच दो एक रत्न प्राप्त होनेसे ही दरिद्रसे भी दरिद्र धनी, चिन्ताशील ज्ञानी, ईश्वरद्वेषी, प्रेमिक, महापराक्रमी शक्तिमान और कर्म्मवीर अपने जीवनके उद्देश्य साधनके लिये पूर्णरूपसे सज्जित और सन्नद्ध होकर कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण हो जाते हैं।

गीता अक्षय मणियोंकी खान है। प्रत्येक युगमें यदि खानसे मणियां संग्रह की जांय, तो भी भावी सन्तान सदैव नये नये अमूल्य रत्न प्राप्त करके हृष्ट और विस्मित ही होती रहेंगी।

ऐसी गम्भीर और गुप्तज्ञान पूर्ण पुस्तककी भाषा अत्यन्त प्राञ्जल और रचना सरल है, कि ऊपरी अर्थ सहजहीमें ज्ञात हो जाता है। डुबकी न मारकर गीता-समुद्रकी अनुच्च तरङ्गोंके ऊपर ढूंढ़ने पर भी शक्ति और ज्ञानकी बहुत कुछ वृद्धि होती है। गीतारूपी खानके रत्नोद्दीपक गंभीर गुहामें प्रवेश न कर केवल बाहर ही फेरी लगाने पर ही तृणमें गिरा हुआ जो उज्ज्वल मणि मिल जाता है, वही इस जीवनमें धनी होनेके लिये यथेष्ठ हैं।

गीताकी हजारों व्याख्यायें होनेपर भी, ऐसा समय कभी भी नहीं आवेगा जब कि नवीन व्याख्याकी आवश्यकता न हो। संसारके श्रेष्ठ महापण्डित या बहुत बड़े ज्ञानी गीताकी ऐसी

व्याख्या नहीं कर सकते कि जिससे उनकी व्याख्या हृदयङ्गम हो जाय और यह कहा जा सके कि व्याख्या हो गयी, अब इसके अतिरिक्त गीताकी और व्याख्या करना अनावश्यक है, समस्त अर्थ समझ लिया गया। सारी बुद्धि खर्च करके इस ज्ञानका कुछ अंश समझा और समझाया जा सकता है। चिरकालतक योग साधन करके या निष्काम कर्ममार्ग में उच्चातिउच्च स्थानपर आरूढ़ होकर, यहाँतक ही कहा जा सकता है कि गीतामें वर्णित कई गम्भीर सत्य प्राप्त किया गया, उसकी दो एक शिक्षायें इस जीवनमें कार्य्यरूपमें परिणत की गयीं। लेखकने जो कुछ प्राप्त किया है, जो कुछ कर्मपथमें अभ्यस्त किया है, विचार और वितर्क द्वारा उसका जो अर्थ किया है, उसे दूसरेकी सहायताके लिये विवृत करनाही इन प्रबन्धोंका उद्देश्य है।

वक्ता।

—०—

गीताका उद्देश्य और अर्थ समझ लेनेसे पहले वक्ता, पात्र और उस समयकी अवस्थाका विचार करना आवश्यक है। वक्ता तो थे भगवान श्रीकृष्ण, पात्र थे श्रीकृष्णके सखा वीर शिरोमणि अर्जुन और अवस्था थी कुरुक्षेत्रके भीषण हत्याकाण्डका आरम्भ।

बहुतसे लोग कहते हैं, महाभारत रूपक मात्र है। श्रीकृष्ण भगवान, अर्जुन जीव, धार्त्तराष्ट्र यानी दुर्योधन आदि शत्रु और पांडव सेना मुक्तिकी अनुकूल वृत्तियां हैं। इससे जिस प्रकार महाभारतको काव्य सहित्यमें तुच्छ स्थान दिया जाता है, उसी प्रकार गीताकी गम्भीरता, कर्म्मीके जीवनमें उसकी उपयोगिता और उच्च मानव जातिकी उन्नति करनेवाली शिक्षा, हीन और नष्ट हो जाती है। कुरुक्षेत्रका युद्ध केवल गीताचित्रका फ्रेम *नहीं, वरं गीतामें कथित शिक्षाका मूल कारण एवं गीतामें उल्लिखित धर्म्म सम्पादनका श्रेष्ठ क्षेत्र हैं। कुरुक्षेत्र महासमर का काल्पनिक अर्थ यदि स्वीकार किया जाय तो गीताका धर्म्म

---

* फ्रेम—चौखट या चित्रके चारों ओरकी लकड़ी।

वीरोंका धर्म्म है और वह संसारमें आचरणीय धर्म्म न होकर संसारके अनुपयोगी शान्त सन्यास धर्म्ममें परिणत होता है।

श्रीकृष्ण वक्ता थे। शास्त्रोंमें लिखा गया है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान हैं। गीतामें भी श्रीकृष्णने अपनेको भगवान कहकर कथन किया है। चौथे अध्यायमें अवतारवाद एवं दशवें अध्यायमें विभूतिवादका अवलम्बन करके भगवान सब प्राणियों-के शरीरमें प्रच्छन्नभावसे अवस्थित, बहुतसे प्राणियोंमें शक्ति विकाशसे अधिक परिमाणमें व्यक्त एवं श्रीकृष्ण शरीरमें पूर्ण रूपमें अवतीर्ण हैं, यही प्रकट होता है। बहुतोंका कहना है कि श्रीकृष्ण और अर्जुन कुरुक्षेत्रके रूपकमात्र हैं, उसी रूपकके बहाने गीताकी असली शिक्षाका उद्धार हुआ है, किन्तु उस शिक्षा का यह अंश पृथक नहीं किया जा सकता। अवतार वाद यदि है, तो श्रीकृष्णको पृथक कैसे किया जा सकता है? अतएव स्वयं भगवान इस ज्ञान और शिक्षाके प्रचारक हैं, ऐसा सिद्ध होता है।

श्रीकृष्ण अवतार हैं, उन्होंने मानव शरीरमें, मनुष्यका शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक धर्म ग्रहण करके तदनुसार लीला की है। उसी लीलाका प्रकाश्य और उसकी गूढ़शिक्षा यदि हम अपने अधीन करें, तो इस संसारव्यापी लीलाका अर्थ, उद्देश्य और प्रणाली जान सकेंगे। इस महती लीलाका प्रधान अंग पूर्णज्ञान-प्रवर्त्तित कर्म है। उस कर्ममें और लीलाके मूलमें कौनसा ज्ञान निहित था, वही गीतामें प्रकाशित हुआ।

गीताकी भूमिका।

महाभारतके श्रीकृष्ण कर्मवीर, महायोगी, महासंसारी, साम्राज्य स्थापक, राजनोतिज्ञ और योद्धा—क्षत्रिय शरीरमें ब्रह्मज्ञानी थे। उनके जीवनमें महाशक्तिका अतुलनीय विकाश और रहस्यमय क्रीड़ा दिखाई पड़ती है। गोता उसी रहस्यकी व्याख्या है।

श्रीकृष्ण संसारके प्रभु, विश्वव्यापी वासुदेव अथवा अपनी महिमा प्रच्छन्न करके पिता, पुत्र, भाई, पति, सखा, मित्र, शत्रु इत्यादि सम्बन्ध मानव समाजके साथ स्थापन करके लीला किये हैं। उनके जीवनमें आर्यज्ञानका बड़ा रहस्य एवं भक्ति मार्गकी उत्तम शिक्षा स्थापित है। उसके सब तत्व भी गीतोक्त शिक्षाके अन्तर्गत हैं।

श्रीकृष्ण द्वापर और कलियुगके संधिस्थल यानी बीचमें, अवतीर्ण हुए थे। प्रत्येक कल्पमें उस सन्धिस्थलके समय भगवान पूर्णाङ्ग रूपमें अवतीर्ण होते हैं। कलियुग चारो युगोंमें जैसा निकृष्ट युग है वैसा ही वह श्रेष्ट भी है। यह युग मनुष्यकी उन्नतिका प्रधान शत्रु, पाप-प्रवर्त्तक कलिका राज्यकाल है। मानव समाजकी अत्यन्त अवनति और अधोगति कलिके शासन कालमें ही होती है। किन्तु बाधाओंके साथ युद्ध करते करते शक्तिकी वृद्धि होती है; पुरानेके ध्वंसमें नयेकी उत्पत्ति होती है, यही नियम कलियुगमें भी देखा जाता है। संसारके क्रमविकाशमें अशुभके जिस अंशका नाश होता जाता है, वँही कलियुगमें अति विकाशमें नष्ट होता है तथा एक ओर नया बीज

वोया जाता और अंकुरित होता है जो कि सत्ययुगमें वृक्ष रूपमें परिणत होता है। जैसे ज्योतिष विद्यामें एक ही ग्रहकी दशामें सब ग्रहोंकी अन्तर्दशाका भोग होता है, वैसे ही कालकी दशामें सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग भी अपनी अपनी अन्तर्दशाका वारवार भोग करते हैं। इस प्रकार चक्रगतिके प्रभावसे कलियुगमें घोर अवनति, फिर उन्नति, फिर घोरतर अवनति, फिर उन्नति होकर भगवानका उद्देश्य साधित होता है। द्वापर और कलियुगके वीचमें भगवान अवतीर्ण होकर अशुभका अति विकाश और उसका नाश तथा शुभका वीजवपन और उसके अंकुरके अनुकूल अवस्था कर जाते हैं, तद्पश्चात् कलि का प्रारम्भ होता है। श्रीकृष्ण इस गीतामें सत्ययुगके आगमन के उपयुक्त कुछ ज्ञान और कर्मकी प्रणाली छोड़ गये हैं। कलियुगके अन्तर्गत सत्ययुगकी अन्तर्दशा के आगमनकालमें, गीता धर्मका विश्वव्यापी प्रचार अवश्यम्भावी है। वही समय उपस्थित होनेके कारण, गीताका आदर, कुछ ज्ञानी और पंडितोंमें सीमावद्ध न रहकर, सर्वसाधारणमें एवं म्लेच्छदेशों में भी प्रसारित हो रहा हैं।

अतएव वक्ता श्रीकृष्णसे उनका गीतारूप वाक्य स्वतन्त्र नहीं किया जा सकता। श्रीकृष्ण गीतामें प्रच्छन्न हो कर रहते हैं, गीता श्रीकृष्णकी वाङ्मयी मूर्त्ति है।

पात्र।

—o—

गीतामें वर्णित ज्ञानके पात्र थे पांडव-श्रेष्ठ महावीर इन्द्रका पुत्र अर्जुन। जिस तरह वक्ताको अलग कर देनेसे गीता का उद्देश्य और उसके निगूढ़ार्थका उद्धार करना कठिन है, उसी तरह पात्र (अर्जुन) को अलग कर देनेसे गीताके असली अर्थकी सिद्धि नहीं होती।

अर्जुन श्रीकृष्णके प्रिय सखा थे। जो लोग श्रीकृष्णके समयमें एक ही कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण थे, उन लोगोंका मनुष्य शरीरधारी पुरुषोत्तमके साथ अपने अपने अधिकार और पूर्वजन्मके कर्म भेदानुसार भिन्न भिन्न सम्बन्ध स्थापित था। उद्धव श्रीकृष्णके भक्त, सात्यकि उनका सहचर और दास, राजा युधिष्ठिर उनकी सम्मतिके अनुसार चलनेवाले आत्मीय और बन्धु थे। किन्तु श्रीकृष्णके साथ अर्जुन की सी उचित घनिष्टता किसीकी भी नहीं थी। समान अवस्थावाले दो पुरुषोंमें जितना मधुर और निकट सम्बन्ध हो सकता है, श्रीकृष्ण और अर्जुनमें वह सब मधुर सम्बन्ध विद्यमान था। अर्जुन श्रीकृष्णके भाई, प्रियतम सखा और उनकी प्राणप्रतिम बहिन सुभद्राके स्वामी थे। गीताके चौथे अध्यायमें भगवानने, इस घनिष्टताको ही, गीताका परम रहस्य श्रवण करनेके पात्र रूपमें वरण करनेका कारण कहा है।

पात्र ।

> स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
> भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

अर्थात्—वह पुराना छिपा हुआ योग हमने आज अपना भक्त और सखा समझ, तुमसे प्रकट किया है। कारण, यह योग संसारका श्रेष्ठ और परम रहस्य है। अठारहवें अध्यायमें भी गीताके केन्द्रस्वरुप कर्म्मयोगका मूल मन्त्र व्यक्त करनेके समय भगवानने इस बातको दुहराया है।

> सर्व गुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः ।
> ईष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

"फिर हमारी परम और सबकी अपेक्षा गुह्यतम बातको सुनो। तुम हमें अत्यन्त प्रिय हो, इसी कारण तुमसे इस श्रेष्ठ मार्ग की बात हम प्रकट करेंगे।" इन दोनों श्लोकोंके अभिप्राय श्रुतिके अनुकुल हैं, जैसा कि कठोपनिषद्में लिखा हुआ है।

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
> न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
> यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
> स्तस्यैव आत्मा वृणुते तनु स्वां ॥

"यह परमात्मा दार्शनिकोंकी व्याख्या द्वारा भी लभ्य नहीं, मेधाशक्ति द्वारा भी लभ्य नहीं, और पूर्ण शास्त्रज्ञान द्वारा भी लभ्य नहीं। भगवान जिन्हें वरण करते हैं, उन्हींको लभ्य होते हैं और उन्हींके समीप यह परमात्मा अपना शरीर प्रकट करते हैं।" अतएव जो लोग भगवानके साथ सख्य इत्यादि मधुर

सम्बन्ध स्थापित करनेमें समर्थ हैं, वेही गीतामें वर्णित ज्ञानके पात्र हैं ।

इसमें एक और अत्यन्त प्रयोजनीय बात छिपी है। भगवानने अर्ज्जुनको एकही शरीरमें भक्त और सखा कहकर वरण किया है। भक्त अनेक तरहके होते हैं। साधारणतः किसी को भी भक्त कहनेसे गुरु-शिष्य सम्बन्धकी बात याद आती हैं। उस भक्तिके मूलमें प्रेम है तो सही, किन्तु साधारणतः वाध्यता, सम्मान और अन्धभक्ति उसके विशेष लक्षण हैं। किन्तु सखा, सखाको सम्मानित नहीं करते; सखाके साथ क्रीड़ा-कौतुक आमोद और स्नेह युक्त सम्भाषण करते हैं; क्रीड़ाके लिए उनका उपहास और ताच्छिल्य भी करते हैं, गाली देते हैं और उनपर दौरात्म करते हैं। सखा सब दिन सखाके वाध्य नहीं होते; उनकी ज्ञान गरिमा छलरहित हितैपितामें मुग्ध हो कर यद्यपि उनके उपदेशानुसार चलते हैं तो भी अन्धभावसे नहीं; उनके साथ तर्क करते हैं; अपने सन्देह प्रकट करते हैं, वीच वीचमें उनके मतका प्रतिवाद भी करते हैं। भयका दूर होना सखा सम्बन्धकी प्रथम शिक्षा है। सम्मानके वाहरी आडम्बरका विसर्जन उसकी दूसरी शिक्षा है; प्रेम उसकी पहली बात और शेपकी बात है। जो लोग इस संसारको माधुर्य्यमय, रहस्यमय, प्रेममय और आनन्दमय क्रीड़ा समझ, भगवानको क्रीड़ाके सहचर रूपमें वरण करके सख्य सूत्रमें आवद्ध कर सकते हैं, वे ही गीतोक्त ज्ञानके पात्र यानी अधिकारी

हैं। जो लोग भगवानकी महिमा, प्रभुत्व, ज्ञानगरिमा और भीषणताको हृदयङ्गम करते हैं, और ऐसे ही ज्ञान रहित न हो कर उनके साथ निर्भय और प्रसन्न मुख हो क्रीड़ा करते हैं वे ही गीतोक्त ज्ञानके अधिकारी हैं।

सख्य सम्बन्धमें क्रीड़ाके बहाने, सब सम्बन्ध अन्तर्भूत हो सकता है। गुरुशिष्य सम्बन्ध, सख्यमें प्रतिष्ठित होनेसे अत्यन्त मधुर हो जाता है, इसीसे अर्जुनने गीताके प्रारम्भमें श्रीकृष्णके साथ ऐसाही सम्बन्ध स्थापित किया। अर्जुनने कहा भी है— "तुम्हीं मेरे परम हितैषी बन्धु हो, तुम्हारे सिवा किसकी शरणमें मैं जाऊं ; मैं मन्दबुद्धि कर्त्तव्य-भयसे भीत हूं, कर्त्तव्य के सम्बन्धमें सन्दिग्ध और तीव्र शोकके कारण ज्ञान रहित हूं। तुम मेरी रक्षा करो, उपदेश दो, मैं अपने लौकिक और पारलौकिक मङ्गलका सारा भार तुम्हीं पर छोड़ता हूं।" इस भावसे अर्जुन मानवजातिको एकमात्र सखा और सहायकके निकट ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आया था। फिर मातृ सम्बन्ध एवं वात्सल्य भाव भी तो सख्यमें सन्निविष्ट होता है। अवस्थामें बड़े और ज्ञानमें श्रेष्ठ लोग, अपनेसे छोटे और अल्पज्ञ सखाकी रक्षा करते, यत्न करते और सर्वदा उन्हें अपने समीप रख विपत्ति और अशुभसे बचाते हैं। जो लोग श्रीकृष्णसे मैत्री करते हैं, श्रीकृष्ण उनके साथ आत्मीय भाव रखते हैं। मैत्रीमें जिस तरह मातृप्रेमकी गम्भीरता है, उसी तरह दाम्पत्य यानी पति-पत्नी प्रेमकी तीव्रता और उत्कट आनन्दका भी समावेश हो

सकता है। सखा अपने सखाके सान्निध्य यानी निकटताको हमेशा प्रार्थना करते और उनके वियोगमें दुःखी होते हैं; उनके शरीर-स्पर्शसे गद्गद होते और उनके लिये प्राणतक देनेमें आनन्द मानते हैं। दास्य (सेवक और स्वामी) सम्बन्ध भी मैत्रीकी क्रीड़ाके अन्तर्गत होनेसे मधुर हो जाता है। कहा जा चुका कि जो जितना ही मधुर सम्बन्ध पुरुषोत्तमके साथ स्थापित करते हैं, उनका मैत्री-भाव उतना ही प्रस्फुटित होता एवं उतना ही वे गीतोक्त ज्ञानके अधिकारी होते हैं।

कृष्णके सखा अर्जुन, महाभारतके प्रधान कर्मी हैं और गीता में कर्मयोग शिक्षा ही प्रधान शिक्षा है। ज्ञान, भक्ति और कार्य ये तीनों मार्ग परस्पर विरोधी नहीं हैं, कर्म्म मार्गमें ज्ञानसे उत्पन्न कर्ममें प्राप्त भक्तिको शक्तिका प्रयोग करके परमात्माके उद्देश्य सिद्धिके लिये उन्हींके आज्ञानुसार कर्म करना गीताकी शिक्षा है। जो लोग संसारके दुःखोंसे भयभीत, वैराग्य-पीड़ित, ईश्वरकी लीलासे विरक्त हो रहे हैं और कर्म छोड़कर उससे छिपनेवाले हैं, उनका मार्ग स्वतन्त्र है। वीरोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्द्धर अर्जुनकी ऐसी इच्छा या भाव नहीं था! श्रीकृष्णने किसी शान्त सन्यासी अथवा दार्शनिक ज्ञानीसे यह उत्तम रहस्य नहीं प्रकट किया था, न किसी अहिंसा-परायण ब्राह्मणको इस शिक्षाका अधिकारी समझ उसे वरण किया था, उन्होंने तो महापराक्रमी तेजस्वी और क्षत्रिय योद्धाको यह अतुलनीय ज्ञान प्रदान किया था। जो लोग जीवन-संग्राममें जय और पराजयसे विचलित

नहीं होते हैं। वे ही इस शिक्षाकी गूढ़तम तहमें प्रवेश करनेमें समर्थ होते हैं। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" अर्थात् यह आत्मा बलहीन पुरुषोंको भी प्राप्त नहीं हो सकता। जो लोग मुमुक्षुत्वकी अपेक्षा ईश्वरके प्राप्तिकी आकांक्षाको अधिक पोषण करते हैं वेही भगवानके समीपका आस्वाद पा अपनेको नित्य-मुक्त-स्वभाववान बनानेमें मुमुक्षुत्व अज्ञानका अन्तिम आश्रय समझकर उसे त्याग करदेनेमें समर्थ होते हैं। जो लोग तामसिक और राजसिक अहंकार त्याग करके सात्विक अहंकारमें भी आबद्ध होना नहीं चाहते, वे ही गुणातीत अर्थात् जीवनमरणसे मुक्त होनेमें समर्थ होते हैं। अर्जुनने क्षत्रिय-धर्म पालन करनेमें राजसिक वृत्तिको चरितार्थ किया है, अथच सात्विकका आदर्श ग्रहण करनेमें रजःशक्तिको सत्व-मुखी किया है। उसी तरहके पात्र गीतोक्त शिक्षाके लिये उत्तम आधार हैं।

अर्जुन उस समयके महापुरुषोंमें श्रेष्ट थे; सो बात नहीं है। आध्यात्मिक ज्ञानमें व्यासदेव, उस युगके सब तरहके सांसारिक ज्ञानमें पितामह भीष्म, ज्ञानकी तृष्णामें राजा धृतराष्ट्र और विदुर, साधुता और सात्विक गुणमें धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भक्तिमें उद्धव और अक्रूर तथा स्वाभाविक शौर्य और पराक्रममें ज्येष्ठ भ्राता महारथी कर्ण श्रेष्ठ थे। परन्तु अर्ज्जुनको ही भगवानने यह ज्ञान प्रदान किया था, उन्हींके हाथमें उन्होंने अचला जय श्री एवं गांडीव धनुप आदि अनेक दिव्य अस्त्र समर्पण करके उनके द्वारा भारतके हजारों जगद्विख्यात वीरोंका संहार

कर युधिष्ठिरका निष्कंकटक साम्राज्य अर्जुनके पराक्रमसे प्राप्त दानरूपमें स्थापित किया। इतना ही नहीं, वरं भगवानने अर्ज्जुनकोही गीतोक्त परम ज्ञानका एकमात्र पात्र समझ निर्णीत भी किया। अर्जुन ही महाभारतके नायक और प्रधान थे, इसीसे काव्यका प्रत्येक अंश उन्हींके यश और कीर्तिका पोषण करता है। यह पुरुषोत्तम अथवा महाभारतके रचयिता व्यासदेवका अनुचित पक्षपात नहीं है। यह संपूर्ण उत्कर्ष, श्रद्धा और आत्मसमर्पणका फल है। जो लोग पुरुषोत्तम पर पूर्ण श्रद्धापूर्वक विना किसी प्रकारकी इच्छाके अपने कियेहुए शुभ और अशुभ मङ्गल और अमङ्गल पाप और पुण्य समस्त भारका समर्पण करते तथा अपने प्रशंसित गुणको संग्रह अलिङ्गन न कर उसे ईश्वर-दत्त समझ उन्हींके कार्य्यमे' सम्मिलित करते है, वे ही श्रद्धावान निरहंकारी कर्म्मयोगी, पुरुषोत्तम भगवानके प्रियमत सखा और शक्तिके उत्तम आधार हैं और उन्हींके द्वारा संसारका विराट् कार्य्य निर्दोष रीतिसे सम्पन्न होता है। इसलाम-धर्मके प्रणेता मुहम्मद साहव इसी तरहके श्रेष्ठ योगी थे। अर्जुन भी उसी तरह आत्म समर्पण करनेमें सदा सचेष्ट थे। अर्जुनकी वही चेष्टा भगवान श्रीकृष्णकी प्रसन्नताका कारण है। जो लोग पूर्ण आत्म समर्पण करनेकी दृढ़ चेष्टा करते हैं। वे ही गीतामें वर्णित शिक्षाके उत्तम अधिकारी हैं। श्रीकृष्ण उनके गुरू और सखा होकर उनके इस लोक और परलोकका सारा भार अपने ऊपर ले लेते हैं।

अवस्था।

—(:०:)—

मनुष्यके प्रत्येक कार्य्य और उक्तिके उद्देश्य और कारणको भलीभांति समझने लिये यह जानना आवश्यक है कि किस आवस्थामें वह कार्य्य या वह उक्ति काममें लाई गई अथवा व्यक्त हुई। कुरुक्षेत्रके महायुद्धके प्रारम्भ कालमें जिस समय शस्त्रप्रयोग आरंभ हुआ —प्रवृत्ते शस्त्र सम्पाते—उसी समय भगवानने गीताको प्रकट किया। बहुतसे लोग इस बातसे विस्मित और विरक्त होकर कहते हैं कि, निश्चय ही यह कविकी असावधानता अथवा उसकी बुद्धिका दोष है। वास्तवमें उस समय, उस जगह ऐसे भावापन्न पात्रको देश काल और पात्र समझकर ही श्रीकृष्णने गीताका उपदेश सुनाया था।

समय था संग्रामका प्रारम्भकाल। जो लोग प्रबल स्रोतमें अपने वीरत्व और शक्तिका विकाश और परीक्षा नहीं करते, वे कभी भी गीतोक्त ज्ञानके अधिकारी नहीं हो सकते। परन्तु जिन्होंने कोई कठिन महाव्रत आरम्भ किया हो, कि जिस महाव्रतमें अनेक विघ्न बाधाएँ, अनेक शत्रुओंकी वृद्धि, अनेक

तरहके पराजयकी आशङ्का स्वाभाविकही होती हो, उसी महाव्रत के पालन करनेमें जिस समय दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है, उस समय व्रतके अन्तिम उद्यापनके लिये, भगवानकी कार्यसिद्धिके लिये यह ज्ञान प्रकट होता हैं। गीताकी शिक्षा, कर्ममार्गमें ईश्वरप्राप्तिकी स्थापनाका निश्चय करती हैं; श्रद्धा और भक्तिपूर्ण कर्मसे ही ज्ञान उत्पन्न होता है। अतएव गीतोक्त मार्ग का पथिक गीतोक्त मार्गको त्यागकरके, उससे दूर शांतिमय आश्रममें, पहाड़की गुहा या निर्जन स्थानमें भगवानका दर्शनलाभ नहीं करते, वे तो नीच मार्ग मेंही कर्मके कोलाहलमें हठात् उस स्वर्गीय दीप्ति जगत्के आलोकिक करते हैं तथा मधुर और तेजोमयी वाणीको सुनते हैं।

भीषण संग्रामक्षेत्र है, कौरवों और पाण्डवोंकी वृहद् सेना का मध्य स्थल है, शस्त्र-प्रहार हो रहा है जो लोग इस मार्ग के बटोही हैं या इस प्रकारके कर्ममें आरूढ़ हैं, वे प्रायःही किसी भी गुरुतर फलके उत्पन्न करनेवाले समयमें जिस समयमें कि कर्मोंके कार्यानुसार विना देखेकी गति इधर या उधर विचलित नहीं होती, उसी समय अनायास योगसिद्धि और परम गतिको प्राप्त होते हैं। उनका ज्ञान कर्ममार्गसे रोकनेवाला नहीं, वरं कर्ममें प्रवृत्त करनेवाला है। यह भी सत्य है कि ध्यानमें, निर्जनमें और स्वस्थ आत्मामें ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, इसीलिये पण्डितलोग निर्जन स्थान अधिक पसन्द करते हैं। किन्तु गीतामें वर्णित योगके अनुयायी मत, प्राण और देहको

इस ढङ्गसे विभक्त कर सकते हैं कि वे जनतामें निर्ज्जनता, कोलाहलमें शान्ति और घोर कर्म-प्रवृत्तिमें परम निवृत्तिका अनुभव करते हैं। वे अन्तरङ्गको वहिरङ्गद्वारा नियन्त्रित नहीं करते, वरं वहिरङ्गको अन्तरङ्गद्वारा नियन्त्रित करते हैं। साधारण योगी संसारसे भयभीत हो कर्म-क्षेत्रसे भागकर योगाश्रमकी शरण ले योगमें प्रवृत्त होते हैं; पर कर्मयोगी संसारको ही योगाश्रम मानते हैं। साधारणयोगी वाहरी शान्ति और नीरवताकी इच्छा रखते हैं, शान्ति भंगसे उनका तपभंग होता है; किन्तु कर्मयोगी-हृदयमें विशाल शांति और नीरवताका भोग करते हैं। बाहरी कोलाहलमें वह अवस्था और भी गम्भीर होती है और वाहरी तपोभंगसे वह स्थिर आंतरिक तप खण्डित नहीं होता, अविचलित रहता है। लोग कहते हैं कि युद्धमें तत्पर सेनाके बीचमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका सम्वाद होना किस तरह संभव है। उत्तर—योगप्रभावसे संभव है। योगवलसे युद्धके भयङ्कर हाहाकारके बीच श्रीकृष्ण और अर्जुनमें भीतर और वाहर दोनोंमें शांति विराज रही है, युद्धकी घोर अशांति और कोलाहल उन दोनोंसे स्पर्शतक नहीं कर पाती। इसमें कर्मोपयोगी और एक आध्यात्मिक शिक्षा स्थापित है। जो लोग गीतामें वर्णित योगका अनुशीलन करते हैं, वे श्रेष्ठ कर्मी एवं कर्ममें अनासक्त होते हैं। कर्ममें ही आत्माका आंतरिक आह्वान और सुननेसे ही वे कर्ममें विरक्त हो योगमें निमग्न और तपस्यामें लीन होते हैं। वे जानते हैं कि कर्म और फल दोनों ईश्वर-

के हैं, मनुष्य यन्त्रमात्र है; अतएव कर्मफलके लिये उत्कण्ठित होना चाहिये। वे यह भी जानते हैं कि कर्मयोगको सुविधाके लिये, कर्मकी उन्नतिके लिये तथा ज्ञानवृद्धि और शक्तिवृद्धिके लिये यह आह्वान होता है। इसीसे कर्ममें लीन होनेसे वे भय नहीं करते; वे जानते हैं कि तपस्यामें कभी भो समय नष्ट नहीं हो सकता।

पात्रका भाव कर्मयोगीके अन्तिम संदेहको बढ़ाता है। विश्व-समस्या, सुख दुःखकी समस्या तथा पाप पुण्यकी समस्यासे घबरा कर अधिकांश लोग कर्मक्षेत्रसे भागना ही श्रेयस्कर समझ निवृत्ति, वैराग्य और कर्मत्यागकी प्रशंसाकी घोषणा करते हैं। बुद्धदेवने संसारको अनित्य और दुःखमय कहकर निर्वाण प्राप्तिका मार्ग दिखाया था। ईसा तथा टालस्टाय आदि मानवजातिके सन्तति-स्थापक विवाहपद्धति और संसारके पुराने नियम युद्धके घोर विरोधी थे। सन्यासी कहते हैं कि कर्म्म अज्ञानसे उत्पन्न होता है, अतः अज्ञान और कर्मको त्याग करके, शान्त और निष्क्रिय होना चाहिये। अद्वैतवादी कहते हैं कि संसार मिथ्या है ब्रह्ममें विलीन होना चाहिये। तो फिर जगत् क्यों! यह संसार कैसा? ईश्वर यदि है तो क्यों अर्वाचीन बालकका निष्फल श्रम और नीरस उपवास आरम्भ किया गया है? अच्छा यदि आत्मा ही है तो फिर जगत्पर अध्यारोपकी क्या आवश्यकता? नास्तिकोंका कथन है कि, भगवान कुछ नहीं है और न आत्मा ही कुछ है, है केवलमात्र अंध शक्तिकी अंधक्रिया। अच्छा तो उसीका

वर्णन फिर किस तरह है ? शक्ति किसकी है ? वह कहांसे उत्पन्न हुई, क्यों वह अंध और उन्मत्त है ? इन सब प्रश्नोंकी सन्तोषजनक मीमांसा कोई भी नहीं कर सकता, न क्रिस्तान, न बौद्ध, न अद्वैतवादी न नास्तिक और न वैज्ञानिक ही; सभी इस विषयमें निरुत्तर एवं इसे टालमटोल करनेके लिये आनाकानी करनेकी चेष्टा करते हैं। हां, एक उपनिषद् और उसके अनुकूल गीता ये दोनों ही इस प्रकारकी आनाकानी करनेकी इच्छा नहीं रखते। यही कारण है कि कुरुक्षेत्रके युद्धमें गीता सुनाया गया। घोर सांसारिक कर्म्म, गुरुहत्या, भ्रातृहत्या एवं आत्मीयहत्या उसका उद्देश्य है, वह अगणित वीर-संहारक युद्धके प्रारम्भका कारण है। जिस समय अर्जुनने हतबुद्धि मोहवश होकर गांडीव धनुषको हाथसे फेंक दिया, और कातर स्वरसे कहा कि :—

तत् किं कर्म्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

अर्थात् "हे केशव ! क्यों मुझे इस कठिन कर्ममें प्रवृत्त करा रहे हो ?" उसी समय उत्तरमें उस युद्धके भयंकर नादके बीच वज्रगम्भीर स्वरमें भगवान श्रीकृष्णके मुखसे गीता नामक महा गीत निकला।

कुरु कर्म्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतं।

* * *

योगस्थः कुरु कर्म्माणि संगंत्यक्त्वा धनंजय।

* * *

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम्॥

❀ ❀ ❀

असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः।

❀ ❀ ❀

मयि सर्वाणि कर्म्माणि संन्यस्याध्यात्म चेतसा।
निराशिर्निर्म्ममो भूत्वा युद्धस्व विगत ज्वरः॥

❀ ❀ ❀

गत संगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म्म समग्रं प्रविलीयते॥

❀ ❀ ❀

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

❀ ❀ ❀

भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्व्वलोक महेश्वरं।
सुहृदं सर्व्व भूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

❀ ❀ ❀

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्टो,
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।

❀ ❀ ❀

यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

❀ ❀ ❀

"इसलिये तुम्हें वही कर्म्म करना चाहिये जो तुम्हारे पूर्व्व पुरुष तुमसे पहले करते आये हैं।

·········योगस्थ अवस्थामें आसक्ति परित्याग पूर्वक कर्म्म करो।········ जिनकी बुद्धि योगमें स्थित है, वे पाप और पुण्य दोनोंको इस कर्म्मक्षेत्रमें अतिक्रम करते हैं. इसलिये योगके लिये साधना करो, क्योंकि योग ही श्रेष्ठ कर्म्मक्षेत्रका साधन है। ·········अनासक्त भावसे कर्म्म करनेवाले पुरुष निश्चय ही परम मङ्गलमय भगवानको प्राप्त करते हैं।······ज्ञान पूर्ण हृदयमें तुम अपने सम्पूर्ण कर्म्मोंको हमें समर्पण करो, कामना और अहंकारको त्याग दुःख रहित होकर युद्ध करनेमें लग जाओ। ·········जो लोग मुक्त और आसक्ति-रहित हैं, जिनका चित्त हमेशा ज्ञानमें निवास करता है. तथा जो यज्ञके लिये कर्म्म करते हैं, उनका सब कर्म्म उन्हें सांसारिक बन्धनमें फँसानेका कारण नहीं होता और वे शीघ्र ही सम्पूर्ण रूपसे हमारेमें विलीन होजाते हैं।·········सब प्राणीका अन्तरङ्ग ज्ञान, अज्ञानसे घिरा हुआ रहता है। यही कारण है कि वह सुख दुःख, पाप पुण्य आदि द्वन्द्व कष्टोंके मोहमें फँसा रहता है।·········हमें तीनों लोकका स्वामी यज्ञ और तपस्या प्रभृति सब तरहके कर्म्मोंका भोक्ता एवं प्राणिमात्रका सखा और बन्धु समझनेसे परम शान्ति प्राप्त होती है।·········हम तुम्हारे शत्रुओंको पहले ही वध कर चुके हैं. तुम केवल निमित्त होकर उनका संहार करो, दुखी मत होओ, युद्ध करो, विपक्षियोंको रणमें तुम्हीं जीतोगे।·········जिनका अन्तःकरण अहंकारके ज्ञानसे रहित है, जिनकी बुद्धि निर्लिप्त है, वे यदि सम्पूर्ण जगत्को संहार कर डालें, तो भी उन्हें

हत्या नहीं लग सकती, और न उन्हें कोई पापका बन्धन ही होता है।

प्रश्न करने और धोखा देनेका कोई लक्षण नहीं। प्रश्नको परिष्कार भावमें उत्थापन करना होता हैं। भगवान क्या है। जगत् क्या है, संसार क्या है, धर्ममार्ग क्या है, गीतामें इन्हीं प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपमें दिये गये हैं। उसमें सन्यास शिक्षा नहीं, कर्म्म शिक्षा ही गीताका उद्देश्य है। इसीसे गीता सबके लियेसमान उपयोगी है।

प्रथम अध्याय।

धृतराष्ट्र उवाच।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्व्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्रने कहा—

हे संजय, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये एकत्र हुए हमारे और पांडवोंके पक्षियोंने क्या किया।

संजय उवाच।

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्य्यमुप संगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

संजयने कहा—

वहां राजा दुर्योधन पांडवोंकी सेनाकी व्यूहरचना देखकर आचार्य्य (द्रोणाचार्य्य) के समीप गये और उनसे कहने लगे।

पश्यैतां पांडु पुत्राणामाचार्य्य महतीं चमूम्।
व्यूढ़ां द्रुपद पुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

"हे आचार्य्य! पांडुपुत्रोंकी इस बड़ी सेनाको देखिये, जिसकी व्यूहरचना आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने की है।

अत्रशूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमायुधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुंति भोजश्च शैव्यश्च नरपुंगवः॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

इस महती सेनामें भीम और अर्जुनके समान महा धनुर्धर वीर पुरुष हैं,—युयुधान (सात्यकि) विराट और महारथी द्रुपद,

धृष्टकेतु, चेकितान और महाप्रतापी काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैव्य,

इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्यु और प्रतापवान उत्तमौजा, एवं सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके (पांच) पुत्र—ये सभी महा योद्धा हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हे द्विजोत्तम! अब हमारी सेनामें जो असाधारण शक्ति-सम्पन्न मुख्य मुख्य नायक हैं उनके नाम भी आपको मैं सुनाता हूं, ध्यानसे सुनिये।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजय ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैवच ॥ ८ ॥
अन्येच बहवः शूरा मदर्थे त्यक्त जीविताः ।
नाना शस्त्र प्रहरणाः सर्वेयुद्ध विशारदाः ॥९॥

आप और भीष्म, कर्ण और रणजीत कृप, अश्वत्थामा और विकर्ण तथा सोमदत्तके* पुत्र भूरिश्रवा,

एवं इनके सिवा बहुतेरे अन्याय वीर मेरे लिये प्राण निछावर करनेको तैयार हैं, और सभी नाना प्रकारके शस्त्र चलानेमें निपुण तथा युद्धमें कुशल हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

इस प्रकार हमारी सेना जिसकी रक्षा स्वयं भीष्म कर रहे हैं अपर्याप्त अर्थात् अपरिमित है, किन्तु उन (पाँडवों) की वह सेना जिसकी रक्षा भीम कर रहे हैं पर्याप्त यानो परिमित या मर्यादित है।

अयनेषुच सर्वेषु यथा भागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एवहि ॥ १ ॥

अतएव अपनी अपनी नियुक्तिके अनुसार सेनाके भिन्न भिन्न प्रवेशद्वारोंमें रहकर सबलोग भीष्मकी ही रक्षा करो।"

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

दुर्योधनको हर्षित करते हुए प्रतापशाली वृद्धकौरव पिता-

*बंगलाके लेखमें 'सौमदत्तिस्तथैवच' की जगह 'सौमदत्तिर्जयद्रथः' ऐसा पाठ है किन्तु नागरी लिपिमें प्रकाशित श्रीमद्भगवद्गीतामें 'सौमदत्तिस्ततथैवच' पाठ मिलता है अतः हमने अनुवादमें वही दिया है।
—अनुवादक।

मह भीष्मने सिंहकी सी घोर गर्जना कर (युद्धारम्भके लिये) अपना शंख बजाया ।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

फिर अनेक शंख, भेरी, (नौबतें) पणक, आनक और गोमुख (ये युद्धके बाजे) अकस्मात् बजने लगे और इन बाजोंका नाद युद्धस्थलमें चारों ओर गूंज उठा ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

इसके बाद सफेद घोड़े जुते हुए विशाल रथमें बैठे हुए माधव (श्रीकृष्ण) और पांडव (अर्जुन) ने (प्रत्युत्तरके रूपमें कि इधरकी सेना भी तैयार है) दिव्य शंख बजाये ।

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

हृषीकेश अर्थात् श्रीकृष्णने पांचजन्य (नामक शंख) अर्जुनने देवदत्त, भयंकर कार्य करनेवाले वृकोदर यानी लम्बे पेटवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक बड़ा शंख बजाया ।

अनन्तविजयं राजा कुन्ती पुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणि पुष्पकौ ॥ १६ ॥

कुन्ती पुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्त विजय, नकुल और सहदेवने सुघोष एवं मणि पुष्पक शंख बजाये ।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥ १८॥

महा धनुर्धर काशिराज, महारथी, शिखंडी, धृष्टद्युम्न, विराट अजेय वीर सात्यकि,

द्रुपद और द्रौपदीके पुत्र तथा महाबाहो सौभद्र (अभिमन्यु) इन सबने, हे राजा! (धृतराष्ट्र) चारों ओर अपने अपने शंख अलग अलग बजाये।

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥

आकाश और पृथ्वीको हिला देनेवाली उस मिश्रित आवाजने कौरवोंका हृदय विदीर्ण कर दिया।

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्र सम्पाते धनुरुद्यम्य पांडवः॥ २०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अनन्तर कौरवोंको व्यवस्थासे खड़े देख परस्पर एक दूसरे पर शस्त्र-प्रहार होनेका समय आनेपर अर्जुनने धनुषको ऊँचा करके श्रीकृष्णसे कहा—

अर्जुन उवाच।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धु कामानवस्थितान्।

कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रण समुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षे हं य एतेत्र समागताः ।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रिय चिकीर्षवः ॥ २३ ॥

अर्जुनने कहा—

"हे अच्युत ! दोनों सेनाओंके बीचमें मेरे रथको ले चलकर स्थापित करो।

इतनेमें युद्धकी इच्छासे तैयार हुए इन लोगोंको मैं देखता हूं। मैं यह जानना चाहता हूं कि, इस रणभूमिमें किसके साथ मुझे युद्ध करना होगा।

दुर्बुद्धि दुर्योधनका कल्याण करनेकी इच्छासे युद्धमें यहां जो लड़नेवाले एकत्र हुए हैं उन्हें मैं देखना चाहता हूं।"

संजय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्म द्रोण प्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्चैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

संजयने कहा—

हे धृतराष्ट्र ! गुणाकेश अर्थात् आलस्यको जीतनेवाले अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियोंके स्वामी श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें उस उत्तम रथको लाकर खड़ा कर दिया; और

भीष्म, द्रोण एवं सब राजाओंके सामने (वे) बोले कि,—हे

अर्जुन ! यहाँ एकत्रित कौरवोंको देखो ।"

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

तब उस रणस्थलमें अर्जुनको दिखाई दिया कि वहांपर इकट्ठे हुए सब (अपने ही) बूढ़े आजा, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र नाती. मित्र, ससुर और स्नेही दोनों ही सेनाओंमें खड़े हैं ।

तान्समीक्ष्य स कौंतेय सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

यह देखकर कि वे सभी एकत्रित हमारे ही बन्धुबान्धव हैं, कुन्ती पुत्र अर्जुन परम करुणासे भरकर खिन्न हृदय हो यह कहने लगे —

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमान् स्वजनं कृष्ण युयुत्सून् समवस्थितान् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।

अर्जुनने कहा—

"हेकृष्ण ! इन स्वजनोंको युद्धके लिये खड़ा देखकर, हमारे शरीरके अंग शिथिल हो रहे हैं, मुँह सूख रहा है, शरीरमें कँपकँपी उठकर रोएँ भी खड़े हो गये हैं; गांडीव हाथसे गिरा पड़ता है, शरीरमें सर्वत्र (आग की तरह:) दाह हो रहा है।

नच शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।३०।।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।

मुझमें खड़ा होनेकी शक्ति नहीं रही, मन चक्करसा खा रहा है। हे केशव! सब अशुभ लक्षण ही दीख रहे हैं।

न च श्रेयोऽनु पश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।३१।।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानिच।

युद्धमें स्वजनोंको मारकर श्रेय अर्थात् कल्याण भी नहीं देख पड़ता। हे कृष्ण मुझे विजयकी इच्छा नहीं, न राज्य चाहिये और न सुख ही।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेनवा ।।३२।।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानिच।
तइमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानिच ।। ३३ ।।
आचार्य्याः पितरः पुत्रास्तथैवच पितामहाः
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।। ३४ ।।

हे गोविन्द! राज्यसे हमें क्या लाभ होगा क्या लाभ भोगसे होगा? क्या प्रयोजन जीवनमें होगा?

जिनके लिये राज्य, भोग और जीवनकी इच्छा करनी थी, वे ही जीवन और धन छोड़कर इस युद्धक्षेत्रमें खड़े हैं।

आचार्य्य बड़े-बूढ़े, लड़के, पितामह, मामा ससुर, नाती, साले तथा और सम्बन्धी,

एतान्नहन्तुमिच्छामि घ्नतोपिमधुसूदन।
अपित्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते ।। ३५ ।।

निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।

हे मधुसूदन, यद्यपि ये (हमें) मारनेकी इच्छासे खड़े हैं, तथापि तीनों लोकके राज्यके लिये भी मैं इन्हें मारनेकी इच्छा नहीं करता, फिर पृथ्वीका राज्य तो कोई चीज ही नहीं है।

हे जनार्दन! इन कौरवोंको मारकर हमें क्या सुख मिलेगा।

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान्सबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३६ ॥

यद्यपि ये आततायी[1] हैं तो भी इनको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा।

अतएव धार्त्तराष्ट्रगण जब कि हमारे आत्मीय हैं, तब उनको मारना उचित नहीं है। क्योंकि हे माधव स्वजनोंको मारकर हम किस तरह सुखी होंगे?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहत चेतसः ।
कुलक्षय कृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३७॥

लोभसे जिनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, उन्हें कुलके क्षयसे होनेवाला दोष और मित्रद्रोहका पातक यद्यपि दिखाई नहीं देता,

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम् ।
कुलक्षय कृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३८॥

१—अग्निदो गरदश्चैव शस्त्र पाणिर्धनापहः । क्षेत्र दारा हरश्चैव षडेते आततायिनः ॥ (वसिष्ठ स्मृति) अर्थात् घर जलानेके लिये आया हुआ, विष देनेवाला हाथमें हथियार लेकर मारनेके लिये आया हुआ, धन लूटकर ले जानेवाला, स्त्री या खेतकाहरण करनेवाला ये छः आततायी हैं।

तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षयका दोष हमें स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है। इसीलिये इस पापसे निवृत्त होनेकी बात हमारे मनमें आये बिना कैसे रहेगी ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलंकृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥३९॥

कुलका क्षय होनेसे सनातन कुलधर्म नष्ट होते हैं और धर्मोंके नाश होनेसे समूचे कुलपर अधर्मकी धाक जमती है।

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४०॥

हे कृष्ण ! अधर्मकी वृद्धि होनेसे कुलकी स्त्रियां बिगड़ जाती हैं; हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दुश्चरित्रा होनेसे वर्णसङ्करोंकी उत्पत्ति होती है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतंति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ॥४१॥

वर्णसङ्कर होनेसे वह कुलके नाश करनेवालेको और (समस्त) कुलको निश्चय ही नरकमें ले जाता है, एवं पिण्डदान और तर्पणादिसे वञ्चित हो पितरोंका भी पितृलोकसे पतन होता है।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यंते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४२॥

कुल-नाशकोंके इन वर्णसङ्करकारक दोषोंसे सनातन जातिधर्म और कुल-धर्म नष्ट होते हैं।

उत्सन्न कुलधर्म्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुमः ॥४३॥

हे जनार्दन! जिनके कुलधर्म विच्छिन्न हो जाते हैं, उनको निश्चय ही नर्कवास होता है, हम प्राचीनकालसे ऐसा ही सुनते आ रहे हैं।

अहोबत महत्पापं कर्तुंव्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४४ ॥

अहो! हम बहुत बड़ा पाप करनेको उद्यत हुए हैं, कि राज्य सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हुए हैं।

यदि माम प्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रारणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरंभवेत् ॥ ४५ ॥

इसकी अपेक्षा मेरा अधिक मंगल तो इसमें होगा कि मैं निःशस्त्र होकर प्रतिकार करना छोड़ दूं और शस्त्रधारी कौरव मुझे रणमें मार डालें।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्येरथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोक संविग्नमानसः ॥ ४६ ॥

संजयने कहा—

इस तरह युद्धक्षेत्रमें कहकर शोकसे व्यथित चित्त अर्जुन धनुष बाण डालकर रथमें अपने स्थानपर बैठ गये।

संजयको दिव्य दृष्टिकी प्राप्ति ।

गीता महाभारतके युद्धके प्रारम्भमें कही गयी थी। इसलिये देखिये गीताके प्रथम श्लोकमें ही 'राजा धृतराष्ट्रने दिव्य दृष्टि-प्राप्त संजयसे युद्धकी बातें पूछी थीं। दोनों (कौरव पांडव) सेनाएँ रणक्षेत्रमें युद्धके लिये खड़ी थीं, उनकी पहली चेष्टा क्या है, जाननेके लिये वृद्ध राजा धृतराष्ट्र उत्सुक थे। संजयको दिव्य दृष्टि प्राप्त थी, यह आधुनिक भारतके अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगोंकी दृष्टिमें कविकी कल्पनाके सिवा और कुछ भी नहीं है। यदि कहा गया होता कि अमुक व्यक्तिने दूरदृष्टि (Clairvoyance) और दूरश्रवण (Clairaudience) को पा करके दूरसे युद्धक्षेत्रका लोमहर्षण दृश्य और महारथियोंका सिंहनाद इन्द्रिय गोचर करनेमें समर्थ हुआ था, तो कदाचित् यह बात संजयकी दिव्यदृष्टि प्राप्तिकी अपेक्षा अधिक विश्वास योग्य अंग्रेजी शिक्षितोंके लिये होती, पर व्यासदेवने जो दिव्यदृष्टिकी शक्ति संजयको प्रदान की थी, उसको गल्प कहकर हँसी उड़ाई जाती है। यदि कहा गया होता कि एक विख्यात यूरोपीय विज्ञान-वेत्ताने अमुक व्यक्तिको स्वप्नावस्थामें प्राप्त (Hypnotised.)

करके उसे उस दूर घटनाकी कितनी ही बातोंका बोध कराया था, तो इसका भी जो लोग पाश्चात्य Hypnotism की बातें जानते हैं, वे विश्वास कर सकते हैं। सोचनेकी बात है कि Hypnotism योगशक्तिका निकृष्ट और वर्जनीय केवल अंग मात्र है। मनुष्यमें इस तरहकी बहुतसी शक्तियां स्थित रहती हैं कि जिन्हें पूर्व समयकी सभ्यजाति जानती और उनका विकाश करती किन्तु कलि-सम्भूत अज्ञानके स्रोतमें वह विद्या डूब गयी, केवल आंशिकरूपमें कुछ लोगोंमें गुप्त और गोपनीय-ज्ञान द्वारा रक्षित होती आ रही है। सूक्ष्मदृष्टिद्वारा स्थूल इन्द्रियोंसे न्यारे एक सूक्ष्म इन्द्रिय है, जिससे हम स्थूल इन्द्रियोंके आयत्तातीत पदार्थ और ज्ञानको अधीनस्थ कर सकते हैं, सूक्ष्म वस्तु देखना, सूक्ष्म शब्द सुनना, सूक्ष्म गंध सूंघना, सूक्ष्म पदार्थ स्पर्श और सूक्ष्म आहारका आस्वाद कर सकते हैं। सूक्ष्म दृष्टिके अन्तिम परिणामको ही दिव्य दृष्टि कहते हैं; उसीके प्रभावसे दूरस्थ गुप्त या अन्य लोकगत विषय आदि सभी चीजों-का हमें ज्ञान होता है। अतः परम योगशक्तिके स्तम्भ महामुनि व्यासदेवने जो संजयको दिव्य दृष्टि दी थी, उसपर भी विश्वास करनेके लिये हमें कोई भी कारण दिखाई नहीं पड़ता। यदि पाश्चात्य Hypnotism की अद्भुत शक्तिपर हम अविश्वास नहीं करते तो फिर अद्वितीय ज्ञानी व्यासदेवकी शक्तिके लिये कैसे अविश्वास कर सकते हैं? शक्तिमानकी शक्ति दूसरोंके शरीरमें लागू हो सकती है, इसके अनेकों

प्रमाण इतिहासके प्रत्येक पृष्ठ और मनुष्य जीवनके प्रत्येक कार्यमें पाये जाते हैं। नैपोलियन, ईतो प्रभृति कर्मवीरों-ने उपयुक्त पात्रमें शक्ति-प्रदान करके उसके द्वारा अपने अपने कार्योंके सहायक बनाये हैं। साधारणसे साधारण योगी भी किसी सिद्धिको प्राप्त कर समय समयपर कुछ देरके लिये या किसी विशेष कार्यमें प्रयोग करनेके लिये दूसरोंको अपनी निजी सिद्धिको शक्ति दे सकते हैं—व्यासदेव जो जगत्के सर्व श्रेष्ठ पण्डित और असाधारण योगसिद्ध पुरुष थे, उन्होंने यदि संजयको दिव्यदृष्टि दे ही दी तो इसमें अविश्वासकी कौनसी बात! वास्तवमें, दिव्यचक्षुका अस्तित्व गल्प न होकर, वैज्ञानिक सत्य होनेकी बात है। हम जानते हैं कि. आंख नहीं देखती, कान नहीं सुनता नाक नहीं सूंघती, त्वचा स्पर्श नहीं करता, जिह्वा आस्वाद नहीं करती, यह सब काम मन ही करता है अर्थात् मन ही देखता, सुनता, सूंघता, स्पर्श करता और आस्वाद करता है। दर्शन शास्त्र और मनस्तत्व विद्यामें यह सत्य बहुत दिनोंसे गृहीत होता आ रहा है, कि Hypnotism इस वैज्ञानिक प्रयोगद्वारा परीक्षित होकर प्रमाणित हुआ है कि नेत्र बंद रहनेपर भी दर्शनेन्द्रियका काम किस नाभीद्वारा सम्पादित हो सकता है। अतः इससे यही निश्चय होता है कि स्थूल इन्द्रियां ज्ञान प्राप्त करनेके लिये केवल सुविधाजनक उपाय हैं और स्थूल शरीरके पुराने अभ्यासमें बंधे हुए हम उनके दास हुए हैं, किन्तु प्रकृतपक्षमें किसी शारीरिक प्रणालीद्वारा उस

ज्ञानका मनको बोध होता है—जैसे अन्धा किसी पदार्थके आकार और स्वभावकी निर्मूल धारणा स्पर्शद्वारा करता है। किन्तु अन्धेकी दृष्टि और स्वप्नावस्थामें यही भेद प्रतीत होता है कि स्वप्नावस्था प्राप्त व्यक्ति पदार्थको प्रतिमूर्ति मनमें देखता है। इसीको दर्शन कहते हैं। प्रकृतपक्षमें हम सामनेकी पुस्तककी देखते नहीं, उक्त पुस्तककी जो प्रतिमूर्ति हमारी आंखोंके सामने चित्रित होती है उसीको देखकर मन कहता है कि, पुस्तक देखा। किन्तु स्वप्नावस्थाके दूरस्थ पदार्थ या घटना देखने और सुननेसे यह भी साबित होता है कि पदार्थकी ज्ञानप्राप्तिके लिये किसी शारीरिक प्रणालीको आवश्यकता नहीं,—सूक्ष्म दृष्टिद्वारा देख सकते हैं। लन्दनमें रहकर उस समय एडिनबरोतमें जो घटना हुई थी, उसे मैंने मनमें देखा, इस तरहके दृष्टान्तोंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। इसीको सूक्ष्म-दृष्टि कहते हैं। सूक्ष्म-दृष्टि और दिव्य-दृष्टिमें यह भेद है कि सूक्ष्म-दर्शी अपने मनमें अदृष्ट पदार्थ अर्थात् जो पदार्थ दिखाई नहीं पड़ता उसकी प्रतिमूर्त्ति देखता है और दिव्य-दृष्टिद्वारा हम मनमें वह दृश्य न देखकर शारीरिक नेत्रोंके सामने देखते, चिन्ता प्रवाहमें वह शब्द न सुनकर शारीरिक कानसे सुनते हैं। इसका एक सामान्य दृष्टान्त Crystal या कालीमें सम सामयिक घटनाका देखना है। किन्तु दिव्य-चक्षु प्राप्त योगियोंके लिये इस तरहके उपकरणकी कोई आवश्यकता नहीं, वे इस शक्ति-विकाशमें विना उपकरणके देशकालके बन्धनको तोड़कर दूसरे देश और दूसरे कालकी घटना जान

सकते हैं। देशके बन्धनसे छुटकारा पानेके प्रमाण हमें यथेष्ट मिलते हैं, किन्तु जिससे मनुष्य त्रिकालदर्शी होनेमें समर्थ होता और वह काल-बन्धनसे छुटकारा पा सकता है उसका इतना बहु-संख्यक और सन्तोषजनक प्रमाण अभी भी जगत्के सामने उपस्थित नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि देशबन्धन छूटना सम्भव है, तो यह बात नहीं कही जा सकती कि कालबन्धनका छूटना असम्भव है। जो हो, इस व्यासदेवकी दी हुई दिव्य-दृष्टिद्वारा संजयने हस्तिनापुरमें रहते हुए भी कुरुक्षेत्रमें आकर एकत्र हुए धार्त्तराष्ट्रों और पांडवोंको आंखसे देखा था और दुर्योधनकी उक्ति, भीष्म पितामहका भयंकर सिंहनाद पाञ्चजन्यका कुरुध्वंस-सूचक महाशब्द तथा गीताके अर्थका द्योतक कृष्णार्जुन सम्वाद कानसे सुना था।

हमारी रायमें न तो महाभारत ही रूपक है और न कृष्णार्जुनका सम्वाद ही कविकी कल्पना है, इसी प्रकार गीता भी आधुनिक तार्किकों या दार्शनिकोंकी नहीं है। अतएव गीताकी कोई भी बात जो कि असम्भव और युक्ति विरुद्ध नहीं है, माननी होगी। इसीलिये हमने भी दिव्यदृष्टि प्राप्तिकी बातपर इतनी वृहत आलोचना की।

दुर्योधनकी वाक्-चातुरी ।

संजयने सबसे पहले युद्धकी चेष्टाका वर्णन किया था । दुर्योधनके पांडवोंकी व्यूह-रचना देखकर द्रोणाचार्य्यके समीप जानेकी व्याख्या करना आवश्यक है । क्योंकि सेनापति भीष्म थे, युद्धकी बातें उन्हींसे कहनी थीं, फिर द्रोणके समीप दुर्योधन क्यों गया ? इसका कारण यह है कूट-बुद्धि दुर्योधनके मनमें भीष्मपर विश्वास नहीं था । भीष्म पांडवोंके अनुरक्त हस्तिनापुरके शान्ति-समर्थक दल (Peace-Party.) के नेता थे; यदि पांडवों और धार्त्तराष्ट्रोंमें ही युद्ध होता, तो भीष्म कदापि अस्त्र धारण न करते, किन्तु कौरवोंके पुराने शत्रु और समकक्ष साम्राज्यके इच्छुक पाञ्चालों द्वारा कौरवोंका राज्य घिरा देखकर कुरुजातिके प्रधान पुरुष, योद्धा और राजनीतिज्ञने—सेनापतिके पदपर नियुक्त होकर अपने बाहु-बलसे चिर-रक्षित जातीय गौरव और प्राधान्यकी अन्तिम रक्षा करनेके लिये संकल्प किया था । दुर्योधन स्वयं राक्षसी प्रकृति-का था, राग और द्वेष ही उसके सब कामोंके प्रमाण और कारण थे, अतएव कर्त्तव्य-परायण महापुरुष (भीष्म) के मनका भाव समझनेमें वह असमर्थ था, और कर्त्तव्य बुद्धिसे प्राण-प्रतिम

पांडवोंको भी युद्धक्षेत्रमें मारनेका बल इस कठिन तपस्वीमें है, इसका जरा भी विश्वास नहीं कर सका था। अपने देशके हित चाहनेवाले लोग परामर्शके समयमें निर्भीकता पूर्वक अपना मत प्रकटकरके अपनी जातिको अन्याय और अहितसे दूर रखनेके लिये पूर्ण चेष्टा करते हैं और उस अन्याय और अहितको एकवार लोगों द्वारा स्वीकृत हो जानेपर अपने मतकी उपेक्षा करके अधर्म युद्धमें भी अपनी जातिकी रक्षा और शत्रुका नाश करते हैं, भीष्मने भी उसी मार्गका अवलम्बन किया था। किन्तु यह भाव भी दुर्योधनको ज्ञात नहीं हुआ। इसीसे भीष्मके समीप न जाकर उसने द्रोणका स्मरण किया। पाञ्चाल देशके राजासे द्रोणाचार्य्यकी व्यक्तिगत घोर शत्रुता थी। पाञ्चाल-देशके-राजकुमार धृष्टद्युम्न-ने गुरु द्रोणाचार्यके मारनेकी प्रतिज्ञा की थी। अतः दुर्योधनने समझा कि इस व्यक्तिगत शत्रुताका स्मरण करनेपर गुरु द्रोणाचार्य शांतिका पक्षपात छोड़कर उत्साह-पूर्वक युद्ध करेंगे। इसीसे दुर्योधनने द्रोणसे स्पष्ट कुछ नहीं कहा। उसने धृष्टद्युम्नके नाम मात्रकी चर्चा की, पश्चात् भीष्मको भी सन्तुष्ट करनेके लिये कुरुराज्यके रक्षक और विजयके आशा-स्वरूप कहकर निर्द्दिष्ट किया। पहले विपक्षके मुख्य मुख्य वीरोंका नाम बतलाकर पीछे अपनी सेनाके कई वीरोंका नाम बतलाया, सबका नाम नहीं, द्रोणाचार्य और पितामह भीष्मके नाम ही उसकी कामना-सिद्धिके लिये यथेष्ट थे। हां अपनी कामनाको छिपानेके लिये और चार पांच नाम उसने बतलाये। इसके बाद उसने

कहा कि, —"हमारी सेना बहुत बड़ी है और भीष्म हमारे सेनापति हैं तथा पांडवोंकी सेना हमारी सेनाकी अपेक्षा छोटी है, उसका आशास्थल भीमका बाहुबल है, अतएव हमलोगोंकी जय कैसे नहीं होगी? अतः जब कि हमलोगोंको भीष्महीका प्रधान भरोसा है तो शत्रुके आक्रमणसे उनकी रक्षा करना सबको उचित है, उनके रहनेसे हमलोगोंकी जय अवश्यम्भावी है।" बहुतसे लोग "अपर्याप्त" शब्दका विपरीत अर्थ करते हैं, पर वह अर्थ युक्ति संगत नहीं हैं, दुर्योधनका सैन्य अपेक्षाकृत बृहत् है, उस सैन्यके नेता शौर्यमें, वीर्यमें किसी तरह कम नहीं हैं, भला आत्मश्लाघी दुर्योधन क्योंकर अपने बलकी निन्दा करके निराशा उत्पन्न करने लगा? भीष्मने दुर्योधनके मनका भाव समझकर उसके सन्देहको दूर करनेके लिये सिंहनाद और शंखनाद किया। दुर्योधनके मनमें उससे खूब हर्ष उत्पन्न हो गया। उसने समझा कि, हमारा उद्देश्य सिद्ध हो गया है अब द्रोण और भीष्म अपनी अपनी द्विधा दूर कर युद्ध करेंगे।

पूर्व सूचना

जिस समय भीष्मके गगनभेदी शङ्खनादसे युद्धक्षेत्र कम्पित हुआ, उसी समय उस विशाल कौरव-सेनाके चारों ओर युद्धके वाजे वज उठे एवं रणोल्लास यानी युद्धारम्भ-सूचक वाजोंके वजनेसे रथी लोग उत्साहित होने लगे। दूसरी ओर पाण्डवोंमें श्रेष्ठ वीर और सारथी श्रीकृष्णने भीष्मके युद्धाह्वानके उत्तर स्वरूप शङ्खनाद किये एवं युधिष्ठिर इत्यादि पांडवोंकी ओरके वीरोंने भी अपना अपना शंख वजाकर रणचण्डीको सेनाके हृदयमें जगाया। उस महान शब्दने पृथ्वी और आकाशको शब्दायमान करके कौरवोंके हृदयको विदीर्णकर दिया। इसका यह अर्थ नहीं कि भीष्म प्रभृति योद्धा इस शब्दसे भीत हो गये; वह वीर पुरुष थे, रणचण्डी-के आह्वानसे भीत कैसे होंगे? इस उक्तिसे कविने पहले अत्यन्त उत्कट शब्द और शारीरिक वेगवानके संचारका वर्णन किया हैं, जैसे अनेकवार वज्रनाद सुननेवालोंको प्रतीत होता है कि मस्तकके दो टुकड़े हुए जाते हैं, वैसे ही इस रणक्षेत्र-व्यापी महाशब्दका संचार हुआ, क्योंकि यह शब्द धार्त्तराष्ट्रोंकी भावी-निधनता-की सूचना दे रहा था, कि तुम्हारे हृदयोंको पांडवोंके शस्त्र विदीर्ण करेंगे। इसीसे पहले ही उनके शंखनादने

धार्त्तराष्ट्रोंको विदीर्णकर दिया। युद्ध आरम्भ हुआ, दोनों ओरसे शस्त्र-प्रहार होनेहीको थे कि अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा, कि, आप मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचोबीच स्थापित करें, मैं देखना चाहता हूं कि कौन कौन विपक्षी हैं, और कौन कौन युद्धमें दुर्बुद्धि दुर्योधनके प्रिय कर्मोंको करनेके लिये आये हुए हैं, तथा किसके साथ मुझे युद्ध करना होगा। अर्जुनके यह कहनेका भाव यह था कि मैं ही पाण्डवोंका आशा-स्थल हूं, मेरे ही द्वारा विपक्षके प्रधान प्रधान वीर मारे जा सकते हैं अतएव देखूं कि कौन कौन एकत्र हुए हैं। यहांतक अर्जुन-का सम्पूर्ण क्षत्रिय भाव रहा है, कृपा अथवा दौर्बल्यका कोई भी चिह्न नहीं था। भारतके बहुतसे श्रेष्ठ वीर पुरुष कौरवोंकी सेनामें उपस्थित थे, सबको संहार करके अर्जुन अपने बड़े भाई युधि-ष्ठिरको निष्कंटक साम्राज्य देनेके लिये उद्योग करते थे। किन्तु श्रीकृष्णने समझा कि अर्जुनके मनमें दुर्बलता है, इस समय चित्त परिष्कार न करनेसे अर्जुनकी यह दुर्बलता अकस्मात् चित्तसे बुद्धिपर अधिकार कर सकती है कि पांडवोंकी अधिक हानि, सम्भवतः सर्वनाश हो जायगा। इसीलिये श्रीकृष्णने ऐसे स्थानोंमें रथको स्थापित किया कि भीष्म, द्रोण इत्यादि अर्जुनके परम-स्नेही लोग सामने थे तथा और सब कौरवोंकी ओरके राजा दिखाई पड़ते थे फिर भगवानने अर्जुनसे कहा कि, देखो, एकत्रित कौरवोंको देखो! स्मरण रखना चाहिये कि अर्जुन स्वयं कुरु-जातीय और कुरुवंशके गौरव थे, उनके सब आत्मीय, प्रियजन

और बालसखा उस कुरुजातिके ही थे। इससे श्रीकृष्णके मुखमें इन्हीं तीन सामान्य बातोंका गम्भीर अर्थ और भाव हृदङ्गम हुआ। उस समय अर्जुनने देखा कि जिनका संहार करके युधिष्ठिरका राज्य स्थापित करना होगा, वे और दूसरे कोई नहीं, अपने ही प्रिय आत्मीय, गुरु और भाई हैं जो कि भक्ति और श्रद्धाके पात्र हैं। अर्जुनने देखा कि समस्त भारतके क्षत्रियवंशज पारस्परिक सम्बन्धद्वारा आबद्ध एवं एक दूसरेको मारनेके लिये इस भीषण युद्धक्षेत्रमें आये हैं।

विषादका प्रधान कारण।

अर्जुनके वैराग्यका मूल कारण क्या है? बहुतसे लोग अर्जुनके इस विषादकी प्रशंसा और श्री कृष्णको ,कुमार्गप्रदर्शक और अधर्मसमर्थक कहकर उनकी निन्दा करते हैं। ख्रीष्टका शांतिभाव, बौद्धधर्मका अहिंसाभाव एवं वैष्णवधर्मका प्रेमभाव ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, युद्ध और नर-हत्या पाप, तथा भ्रातृ-हत्या और गुरु-हत्या महापाप है। वे इसी धारणाके वशीभूत हो यह असङ्गत बात कहते हैं। किन्तु यह सब आधुनिक धारणाय द्वापरयुगके महाबीर अर्जुनके

मनमें भी नहीं उठी थी ; अहिंसाभाव श्रेष्ठ है या युद्ध, नर-हत्या, भ्रातृ-हत्या और गुरु-हत्या श्रेष्ठ हैं या युद्धमें तत्पर होना उचित है, इन सब किसी भी चिन्ताओंका चिह्नतक अर्जुनकी बातोंमें नहीं पाया जाता। हां अर्जुनने यह अवश्य कहा था कि गुरुजनोंकी हत्याकी अपेक्षा भीख मांगना अच्छा है, यह भी कहा था, कि बन्धु बान्धवोंकी हत्यासे हमें पाप ही लगेगा, किन्तु यह बात कर्मका स्वभाव देखकर नहीं वरं कर्मका फल देखकर कही थी। इसीसे श्रीकृष्णने उनका विषाद दूर करनेके लिये यह शिक्षा दी है कि कर्मकाफल देखनेके लिये नहीं, वरं कर्मका स्वभाव देखकर यह कर्म उचित है या अनुचित, स्थिर करना होता है। अर्जुनका पहला भाव यह था कि ये सब हमारे आत्मीय-जन, गुरुजन, बन्धु और बालसखा स्नेह, भक्ति और श्रद्धा करने योग्य हैं, इनकी हत्या करके निष्कंटक राज्य प्राप्त करनेसे वह राज्यभोग कदापि सुखदायक नहीं हो सकता, वरं जीवन-पर्यन्त दुःख और पश्चात्तापमें ही जलना पड़ेगा। बन्धु बान्धवोंसे विहीन होकर पृथ्वीका राज्य भोगना किसीको भी पसन्द नहीं। अर्जुनका दूसरा भाव यह था कि, प्रिय-जनोंकी नर-हत्या करना धर्म-विरुद्ध है, जो लोग द्वेष करनेके योग्य हैं उन्हींकी युद्धमें हत्या करना क्षत्रियोंका धर्म है। तीसरा भाव यह था कि, स्वार्थके लिये इस प्रकारका कार्य करना धर्मविरुद्ध और क्षत्रियोंके लिये बिलकुल ही अनुचित है। चौथाभाव यह था कि भाईके विरोध और भाईकी हत्यामें कुलका और जातिका नाश होगा तथा

इस प्रकारके दुष्परिणामोंका उत्पन्न करना कुलरक्षक और जातिरक्षक क्षत्रिय वीरोंके लिये महापाप है। इन चार भावोंके अतिरिक्त अर्जुनके विषादका मूल कारण और कोई भाव नहीं है। विना इनके समझे भगवान श्रीकृष्णके उद्देश्य और शिक्षाके अर्थ समझमें नहीं आ सकते। खीष्टधर्म, बौद्धधर्म और वैष्णवधर्मके साथ गीताके धर्मके विरोध और सामञ्जस्यकी बात बिलकुल अलग कहना होगा। अर्जुनकी बातोंका भाव सूक्ष्म विचारसे निरीक्षण करनेपर ठीक ठीक जाना जा सकता है।

वैष्णवी मायाका आक्रमण

अर्जुनने पहले अपना विषाद कहा था। महावीर अर्जुन स्नेह और कृपाके अकस्मात् द्रोहमें आच्छन्न और परास्त थे, उनके शरीरका सारा बल एक क्षणमें जाता रहा, सब अङ्ग शिथिल हो गये, खड़े होनेकी भी शक्ति नहीं रह गई, बली भुजाएं गाण्डीव धनुष धारण करनेमें असमर्थ हो गई, शोकके उत्तापसे ज्वरका लक्षण प्रतीत होने लगा, शरीर बिलकुल खिन्नसा हो गया, त्वचाको मानो आगसे किसीने जला दिया, मुँहका भीतरी भाग बिलकुल सूख गया सारे शरीरमें कम्प उत्पन्न हो गयी और मन भी भ्रमणसा करने लगा।

इन भावोंका वर्णन पढ़कर पहले तो कविकी तेजस्विनी कल्पना-के अतिरिक्त विकाश समझ केवल उस कवित्व-सौंदर्यका भोग करके हम शान्त हो जाते हैं ;. किन्तु यदि सूक्ष्मविचारसे खोज करते हैं तो इस वर्णनका एक गूढ़ अर्थ मनमें उदय होता है। अर्जुनने पहले भी कौरवोंके साथ युद्ध किया था, पर इस तरहका भाव कभी भी नहीं हुआ ; इस समय श्रीकृष्णकी इच्छासे हठात् आंतरिक उत्पात हो गया। मनुष्य-जातिकी वहुतसी प्रवल वृत्तियां क्षत्रिय शिक्षा और उच्चाकांक्षाद्वारा पराभूत और आवद्ध होकर गुप्तभावसे अर्जुनके हृदयमें थीं। निग्रहद्वारा चित्तकी शुद्धि नहीं होती, विवेक और विशुद्ध वुद्धिकी सहायतासे और संयमसे चित्तकी शुद्धि होती है। निगृहीत वृत्ति और भाव यदि इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें कभी न कभी चित्तसे उठकर वुद्धिपर आक्रमण करते एवं विजय प्राप्त कर सव कर्म अपने विकाशके अनुकूल मार्गमें अग्रसर करते हैं। यही कारण है कि जो इस जन्ममें दयावान हैं, वह दूसरे जन्ममें निष्ठुर और जो इस जन्ममें कामी और दुश्चरित्र हैं वह दूसरे जन्ममें साधु और सच्चरित्र हो जाते हैं। निग्रह किये विना विवेक और विशुद्ध वुद्धिकी सहा-यतासे सव वृत्तियोंका प्रत्याख्यान करके चित्तका परिष्कार करना चाहिये। इसीको संयम कहते हैं। ज्ञानके प्रभावमें तमोभावका दूर करनेसे संयमका न होना असम्भव है। इसीसे श्रीकृष्ण अर्जुनका अज्ञान दूर करके सोये हुए विवेकको जगा

कर चित्तको शान्त करनेके इच्छुक थे। किन्तु त्यागने योग्य सब वृत्तियोंको चित्तसे उत्तोलनपूर्वक बुद्धिके सामने उपस्थित न करनेसे बुद्धि भी प्रत्याख्यान करनेका अवसर नहीं पाती, युद्धमें ही अन्तस्थ दैत्य और राक्षस विवेक बुद्धिको मुक्त करते हैं। योगकी पहली अवस्थामें जितनी कुप्रवृत्तियां चित्तमें रहती हैं, प्रबलवेगसे बुद्धि आक्रमण करके अनभ्यस्त साधक-को भीति और शोकमें निमग्न कर देती हैं, इसीको पाश्चात्य देशमें शैतानका प्रलोभन कहते हैं, यही मारका आक्रमण है। किन्तु वह भीति और शोक अज्ञान-सम्भूत है, वह प्रलोभन शैतानका नहीं, भगवानका है। अन्तर्यामी जगद्गुरु ही उन सब प्रवृत्ति-साधकोंको आक्रमण करनेके लिये, आह्वान करते हैं अमंगलके लिये नहीं, मङ्गलके लिये चित्त शोधनके लिये। श्रीकृष्ण जिस तरह स्थूल शरीरसे अर्जुनके वाह्य जगत्में सखा और सारथि थे, उसी प्रकार वह उनके सूक्ष्मशरीरमें अशरीरी ईश्वर और अन्तर्यामी पुरुषोत्तम थे, उन्होंने ही इस गुप्त वृत्ति और भावको प्रबल वेगसे एक समयमें बुद्धिपर निक्षेप किया था। उस भीषण आघातसे बुद्धि कुण्ठित हो गई, एवं प्रबल मानसिक विकार उसी क्षण स्थूल शरीरमें कविके कथन किये हुए सब लक्षणोंमें व्यक्त हो गया। प्रबल निराशासे शोक और दुःखका शरीरमें कैसा विकाश हुआ, उसे हम जानते हैं, क्योंकि वह मनुष्यजातिके साधारण अनुभवके बाहर नहीं है। अर्जुनको भग-वानकी वैष्णवी मायाने अखण्ड बलसे एक क्षणमें घेर लिया था;

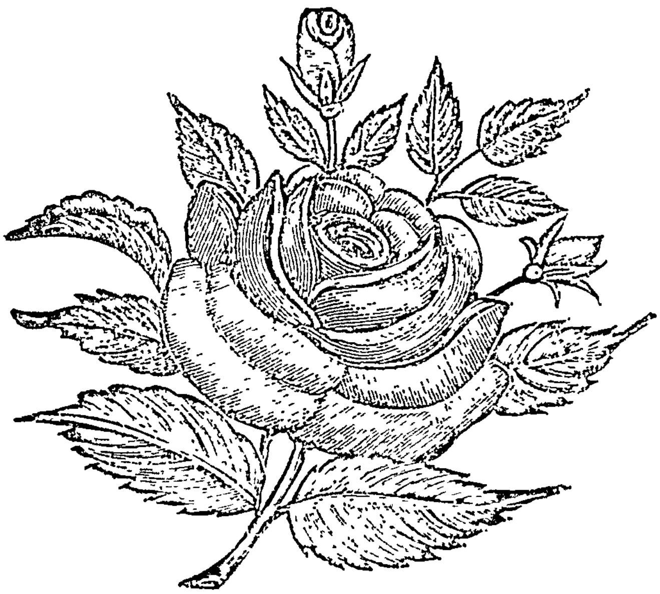
इसीसे यह प्रबल विकार अर्जुनमें उत्पन्न हुआ। जब अधर्म दया और प्रेम आदि कोमलधर्मका स्वरूप धारण कर ले, अज्ञान अपना असली रूप छिपा ज्ञानके बनावटी रूपमें उपस्थित हो और घोर कृष्णवर्ण तमोगुण उज्वल और विशद पवित्रताकी नकली मूर्ति धारण करके कहे कि, मैं ही सात्विक हूं, मैं ही ज्ञान हूं, मैं ही धर्म हूं, मैं ही भगवानका प्रिय दूत, पुण्य स्वरूप और पुण्यका प्रवर्त्तक हूं, तब समझ लेना होगा कि भगवानकी वैष्णवी मायाका बुद्धिमें प्रकाश हो गया है।

वैष्णवी मायाका लक्षण ।

इस वैष्णवी मायाके मुख्य अस्त्र कृपा और स्नेह हैं। किन्तु मानवजातिकी शुद्ध वृत्ति कृपा और स्नेह नहीं, क्योंकि शारीरिक और प्राणकोषागत विकारके वशमें पवित्र प्रेम और दया कलुषित और व्याकुलताके अंग होते हैं। चित्त ही वृत्तिका निवास स्थान, प्राणही भोगका क्षेत्र, शरीर ही कर्मकी शासन-प्रणाली और बुद्धि ही चिन्ताका राज्य है। पवित्र अवस्थामें इन सभोंकी स्वतन्त्र एवं एक दूसरेकी अविरोधी प्रवृत्ति होती है, चित्तमें भाव उठता है, शरीरद्वारा उसका अनुयायी कर्म होता है, बुद्धि द्वारा उसीसे सम्पर्क रखनेवाली चिन्ता होती है प्राण उसी भाव, कर्म और चिन्ताका आनन्द भोग करता है और जीव साक्षी होकर प्रकृतिके इस आनन्दमय क्रीड़ाके देखनेमें आनन्द प्राप्त करता है। अपवित्र अवस्थामें प्राण शारीरिक या मानसिक भोगके लिये लालायित होकर शरीरके कर्मशासनको न करके भोगके लिये प्रयत्न करता है, शरीरके भोगमें रत होकर बारबार शारीरिक भोगके लिये इच्छा करता है, चित्त शारीरिक भोगकी कामनामें आक्रान्त होकर और निर्मल भाव ग्रहण करनेमें

असमर्थ होता है, कलुषित वासनायुक्त भाव चित्तसागरको विक्षुब्ध करता है, उस वासनाका कोलाहल बुद्धिको घेरकर विव्रत और वहिरा करता है, बुद्धि और अधिक निर्मल, शान्त अभ्रान्त चिन्ता ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होती, चञ्चल मनके वशीभूत होकर भ्रम, चिन्ताकी विडम्बना और झूठके प्रावल्यमें अन्धा होता है। ऐसी अवस्थामें जीव भी हतज्ञान हो साक्षी भाव और पवित्र आनन्द भावसे वंचित होकर आधारके साथ अपना एकत्व स्वीकार करके मैं शरीर हूँ. मैं प्राण हूं, मैं चित्त हूं, मैं बुद्धि हूं, इस प्रकारकी भ्रान्त धारणासे शारीरिक और मानसिक सुख दुःखमें सुखी और दुःखी होता हैं। अशुद्ध चित्त इस प्रकार की विडम्बनाका मूल है, अतएव चित्त शुद्धि ही उन्नतिकी पहली सीढ़ी है। यह अशुद्धता केवल तामसिक और राजसिक वृत्तियों-को ही कलुषित करके शान्त नहीं होती वरं सात्विक वृत्तिको भी कलुषित करती है। अमुक व्यक्ति हमारे शारीरिक और मानसिक भोगकी सामग्री है वह हमें अच्छा मालूम होता है, वही हमें चाहिये उसके वियोगमें हमें दुःख होता है, यह सब अशुद्ध प्रेम है, क्योंकि शरीर और प्राणने चित्तको कलुषित करके निर्मल प्रेमको विकृत किया है। बुद्धिभी उस अशुद्धताके फलसे भ्रान्त होकर कहती है कि, अमुक हमारी स्त्री, भाई, वहिन, मित्र, सखा, और आत्मीय हैं, वह इन सभोंपर प्रसन्न होती है। यह शुद्ध प्रेम पुण्यमय है, इससे प्रेमके प्रतिकूल कार्य यदि करते हैं तो वह पाप, क्रूरता और अधर्म है। इस प्रकारके अशुद्ध प्रेमका

फल यही होता है कि ऐसी बलवती दया होती है कि प्रियजनोंका कष्ट, प्रियजनोंके अनिष्टकी अपेक्षा धर्मको जलाञ्जलि दे देना भी श्रेयस्कर प्रतीत होता है' अन्तमें इस कृपापर आघात पड़नेसे धर्मको अधर्म समझकर अपनी दुर्वलताका समर्थन करते हैं बस इसी प्रकार वैष्णवी मायाका प्रमाण अर्जुनके प्रत्येक वाक्यमें पाया जाता है।



इस भावकी क्षुद्रता।

अर्जुनकी पहली बात यह है कि ये सब मेरे सजन, आत्मीय और कृपापात्र हैं, युद्धमें इनकी हत्या करनेसे मेरा क्या हित साधित होगा ? विजेताका गर्व अथवा राजाका गौरव प्राप्त होगा या धनीका सुख ? मैं इस प्रकारका शून्य स्वार्थ नहीं चाहता, लोकका राज्य और भोग जीवनके लिये प्रिय कैसे हो सकता है ? स्त्री, पुत्र और कन्या आदि आत्मीयजनोंको सुखसे रख सकेंगे बन्धु बांधवोंके सहित ऐश्वर्यके सुख और आमोदसे दिन काट सकेंगे, इत्यादि साधनाके कारण ही ये सब सुख और महत्व लोभके विषय हैं। किन्तु जिनके लिये हमें राज्य, भोग और सुख चाहिये, वे ही हमारे शत्रु बनकर युद्धमें खड़े हैं चाहे वे हमारा वध करनेके लिये प्रस्तुत हों तथापि हम राज्य और सुख दोनोंका एक साथ भोग करनेके लिये सहमत नहीं। वे हमारा वध करें, पर मैं उनका कभी वध नहीं कर सकता। यदि उनकी हत्या करनेसे तीनों लोकके राज्यपर अधिकार होता तो भी हम हत्या न करते, फिर पृथ्वीके निष्कंटक साम्राज्यकी तो बात ही क्या! स्थूल दर्शी लोग—

"न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।"
एवं—"एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः किंनु महीकृते॥"*

---

*इन पदोंके अर्थ पिछले अध्यायमें प्रथम ही लिखे जा चुके हैं।

इस उक्तिसे मोहित होकर कहते हैं कि, अहो! अर्जुनका क्या ही महान उदार और स्वार्थ रहित प्रेममय भाव है। रक्तसे भरे हुए भोग और सुखकी अपेक्षा वह पराजय, मृत्यु और कठिनसे कठिन दुःख स्वीकार करते हैं।" किन्तु यदि अर्जुनके मनोभावोंकी परीक्षा की जाय, तो यही ज्ञात होता है कि अर्जुनका भाव अत्यन्त क्षुद्र, दुर्वलता सूचक और कादरता-पूर्ण है। कुलकी रक्षाके लिये अथवा प्रियजनोंके प्रेमके लिये कृपाके वशीभूत हो, रक्तपातके भयसे व्यक्तिगत स्वार्थत्याग करना अनार्योंके लिये महत् उदार भाव हो सकता है, किन्तु आर्योंके लिये वह मध्यम भाव है, हां धर्म और भगवत्प्रीतिके लिये स्वार्थत्याग करना ही उत्तम भाव है। दूसरोंके लिये कुलकी रक्षा और प्रियजनोंके प्रेमके कारण कृपापरवश हो रक्तपातके भयसे धर्मका परित्याग करना अधम भाव है। धर्म और भगवत्प्रीतिके लिये स्नेह, कृपा और भयका दमन करना प्रकृत आर्यभाव है। इस छुद्र भावका समर्थन करनेके लिये अर्जुनने स्वजनोंकी हत्याका पाप दिखाकर फिर कहा है कि, "धार्त्तराष्ट्रोंके वधमें हमलोगोंको क्या सुख और हमारे मनको क्या सन्तोष हो सकता है? वे हमारे बन्धु-बांधव और आत्मीयस्वजन हैं, वेलोग यद्यपि अन्याय करते, हमसे शत्रुता करते, हमारा राज्य छीनते और सत्यका उल्लङ्घन करते हैं, तथापि उनका वध करनेसे हमें पाप ही होगा, सुख नहीं।" अर्जुन यह भूल गये थे कि वे धर्म युद्ध कर रहे है, क्योंकि अपने अथवा युधिष्ठिर के

इस भावकी क्षुद्रता।

सुखके लिये श्रीकृष्ण द्वारा धार्त्तराष्ट्रोंका वध करनेके लिये नियुक्त नहीं हुए है, बल्कि धर्मकी स्थापना करना, अधर्मका नाश करना, क्षत्रिय धर्म पालन करना और भारतमें धर्मपर स्थित एक महत् साम्राज्यकी स्थापना करना इस युद्धका उद्देश है। सारे सुखोंको जलांजलि देकर जीवनव्यापी दुःख और यँत्रणाको सहन करते हुए भी इस उद्देश्यकी सिद्धि करना अर्जुनका कर्त्तव्य है ।

कुलके नाशका वर्णन

किन्तु अपनी दुर्वलताका समर्थन करनेके लिये अर्जुनने एक और अच्छी युक्तिका आविष्कार किया कि, इस युद्धमें कुलका नाश और जाति का नाश होगा, अतएव यह युद्ध धर्मयुद्ध नहीं, वरं अधर्मयुद्ध है। भाइयोंकी इस हत्यामें मित्रद्रोह है, अर्थात् स्वभावतः अनुकूल और सहायक लोगोंका अनिष्ट करना है, और फिर अपने कुल अर्थात् जिस कुरुनामक क्षत्रियवंश और जातिसे दोनों दलवालोंका जन्म हुआ है, उसका भी विनाश साधित होता है। प्रचीन कालमें जातियां प्रायः खूनके सम्बन्ध पर स्थापित थीं। एक महान कुल विस्तार पाकर जातिमें परिणत होता था, जैसे भोजवंश, कुरुवंश आदि भारतकी जातिके अन्तर्गत कुल विशेष एक एक बलशाली जाति हो गये हैं। कुलमें जो अन्तर्विरोध और परस्पर एक दूसरेका अनिष्ट करनेकी संभावना होती है, उसीको अर्जुनने मित्रद्रोहके नामसे अभिहित किया। एक तरहसे यह मित्रद्रोह महा पाप है, इसलिये अर्थ-नीतिके हिसाबसे यह महान दोष मित्रद्रोहमें परिणत है, क्यों कि कुलका नाश होना उसका अवश्यम्भावी फल है, पूर्ण रूपसे पालन करना कुलकी उन्नति और अवस्थितिका कारण है, जिस महान आदर्श और कर्म-शृंखलाको गार्हस्थ्य जीवन और राजनी-तिक क्षेत्रमें पूर्वज स्थापित और रक्षित करते आ रहे हों, उस

आदर्शकी हानि अथवा शृंखलाके टूटनेसे कुलका अधः पतन होता है। जबतक कुल सौभाग्यवान और बलशाली रहता है, तब तक यह आदर्श और कर्म-शृंखला रक्षित रही है, कुलके क्षीण और निर्बल हो जानेसे तमोभावके प्रसारसे महान धर्ममें शिथिलता आ जाती है, जिसके फलसे अराजकता, कुनीति आदि दोष कुलमें प्रविष्ट होते हैं, कुलकी देवियां दुश्चरित्रा होतीं एवं कुलकी पवित्रता नष्ट होती है और नीच जातीय तथा विशेष नीच चरित्रके लोगोंके जन्मे हुए पुत्रोंसे महान कुलमें पुत्रोत्पादन होता है। इससे पूर्वजोंकी प्रकृत संततिके नाशसे कुलका नाश करने वाला नरक को प्राप्त होता एवं अधर्मकी वृद्धिसे वर्णसंकर-सम्भूत नैतिक अधोगति और नीच गुणोंके विस्तार तथा आराजकता प्रभृति दोषोंसे समस्त कुलका भी नाश होता एवं नरककी प्राप्तिके योग्य होता है ।जातिधर्म और कुलधर्म दोनों ही का कुलके नाश होनेसे नाश होता है। जातिधर्म अर्थात् समस्त कुल समुदायमें जो महान जाति होती है, वह जातिकी पुरुष-परम्परामें आया हुआ पुराना आदर्श और कर्म शृंखला है। इसके बाद अर्जुन फिर अपने पहले सिद्धान्त और कर्त्तव्य-कर्म विषयक निश्चयको प्रकट करके युद्धारम्भ होनेके ठीक समय पर गांडीव धनुष परित्याग कर रथमें बैठ गये। कविने इस अध्यायके अंतिम श्लोकमें इशारेसे जनाया है कि शोकसे अर्जुनकी बुद्धिमें भ्रम पैदा हो गया था, और उसने इस तरह क्षत्रियोंके अयोग्य अनार्य आचरणका संकल्प किया था।

विद्या और अविद्या ।

हम अर्जुनके कुल नाश विषयक बातोंमें एक अत्यन्त महत् और ऊंचे भावकी छाया देख पाते हैं। इस भावके साथ जो महत्वपूर्ण प्रश्न मिला हुआ है, उसकी आलोचना गीताकी व्याख्या करने वालोंके लिये विशेष प्रयोजनीय है। हम यदि केवल गीताके आध्यात्मिक अर्थकी खोज करें अपने जातीय, गार्हस्थ्य और व्यक्तिगत सांसारिक कर्म और आदर्शसे गीतामें वर्णित धर्मका पूर्ण विच्छेद करें तो हम उस भाव और उस प्रश्नके महत्व तथा उसकी प्रयोजनीयताको अस्वीकार करेंगे एवं गीतामें वर्णित धर्मका सर्वव्यापी विस्तार संकुचित करेंगे। शंकर प्रभृति जिन्होंने गीताकी व्याख्या की है, वे संसार-विमुख दार्शनिक अध्यात्म-विद्या परायण ज्ञानी या भक्त थे, गीतामें उन लोगोंने उसी आवश्यकीय ज्ञान और भावको ढूँढ़ा है जो उनके लिये प्रयोजनीय था और उसीको प्राप्त करके वे सन्तुष्ट हुए। जो लोग ज्ञानी, भक्त और कर्मी हैं, वे ही गीताकी गूढ़तम शिक्षाके अधिकारी हैं। गीताके वक्ता श्रीकृष्ण ज्ञानी और कर्मी थे, तथा पात्र था भक्त और कर्मी अर्जुन; उसकी ज्ञान-दृष्टि खोलनेके लिये कुरुक्षेत्रमें श्रीकृष्णने इस शिक्षाका प्रचार किया। एक महान राजनीतिक संघर्ष गीताके प्रचारका कारण,

तथा उस संघर्षमें अर्जुनको महान राजनीतिक उद्देश्यकी सि-द्धिके यन्त्र और निमित्त रूपसे युद्धमें प्रवृत्त करना गीताका उद्देश्य एवं युद्धक्षेत्रही शिक्षा-शाला थी। श्रीकृष्ण श्रेष्ट राजनीतिज्ञ और योद्धा थे, धर्मराज्य स्थापित करना उनके जीवनका प्रधान उद्देश्य था, तथा अर्जुन भी क्षत्रिय राजकुमार था राजनीति और युद्ध उसका स्वभाव नियत कर्म था। गीताके उद्देश,वक्ता,पात्र और प्रचारके कारणको अलग करनेसे गीताकी व्याख्या कैसे होसकेगी?

मानव संसारकी पांच मुख्य स्थापना अर्थात् व्यक्ति, परिवार,वंश, जाति और मानव समष्टि—बहुत दिनोंसे विद्यामान है। इन्हीं पांचोंकी स्थापनापर धर्म भी स्थापित है। धर्मका उद्देश्य है। भगवत-प्राप्ति। भगवत् प्राप्तिके दो मार्ग हैं, विद्या पर अधिकार करना एवं अविद्या पर अधिकार करना। बस ये ही दो आत्मज्ञान और ईश्वर दर्शनके उपाय हैं। विद्याका मार्ग ब्रह्मकी अभिव्यक्ति अविद्यामय प्रपंचका त्याग करके सच्चिदानन्दकी प्राप्ति अथवा परब्रह्ममें लय है और अविद्या का मार्ग सब जगह आत्मा और भगवानका दर्शन करके ज्ञानमय, मंगलमय, शक्तिमय परमेश्वरको भाई, स्वामी, गुरु, पिता, माता, पुत्र, कन्या, दास, प्रेमिक, पति और पत्नी रूपमें प्राप्त होना है। शान्ति विद्याका उद्देश्य है और प्रेम अविद्याका उद्देश्य है। किन्तु भगवानकी प्रकृति विद्या अविद्या मयी है। हम यदि केवक विद्याके मार्गका अनुसरण करें तो विद्यामय ब्रह्म प्राप्त करेंगे, और यदि केवल अविद्याका अनुसरण करें तो

अविद्यामय ब्रह्म प्राप्त करेंगे। विद्या और अविद्या दोनोंको जो लोग अधिकारमें कर लेते हैं, वे ही पूर्ण रूपसे वासुदेवको प्राप्त करते हैं; वह विद्या और अविद्यासे न्यारे हैं। जो लोग विद्याके अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचते हैं, वेही विद्याकी सहायतासे अविद्या पर अधिकार करते हैं। ईशोपनिषद्में यह महान सत्य अत्यन्त स्पष्ट भावसे व्यक्त किया गया है; जैसे—

अंधं तमः प्रविशंति येऽविद्या मुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाम् रताः॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदेवाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीरानां येनस्तद्विचचक्षिरे॥
विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृत मश्नुते॥

"जो अविद्याके उपासक होते हैं, वे अन्ध अज्ञानरूप तममें प्रवेश करते हैं। जिन धीर ज्ञानी पुरुषोंने हम लोगोंमें ब्रह्मज्ञान का प्रचार किया है, उनके मुँहसे सुना गया है कि विद्याका भी और अविद्याका भी फल है, ये दोनों फल बिलकुल स्वतन्त्र हैं। जो लोग विद्या और अविद्या दोनोंको भली भाँति समझ पाते हैं, वेही अविद्या द्वारा मृत्युका क्रमोल्लङ्घ करके विद्या द्वारा अमृतमय पुरुषोत्तोमके आनन्दका भोग करते हैं।"

समस्त मानव-जाति अविद्या भोग करके विद्याकी ओर अग्रसर हो रही है, यही प्रकृत क्रमविकाश है। श्रेष्ठ, साधक, योगी, ज्ञानी, भक्त, और कर्मयोगी लोग ही इस महान शत्रुको विजय करनेके लिये चढ़ाई करने वाली सेनाके अग्रगामी सैनिक हैं, जो

कि बहुत दूरी पर निश्चित किये हुए स्थान पर तीव्र गतिसे पहुंच कर लौट आते हैं और मानवजातिको सुसम्वाद सुनाते, मार्ग दिखलाते, तथा शक्ति वितरण करते हैं। भगवान स्वयं अवतार लेकर अथवा किसी व्यक्ति विशेषमें अपनी विभूति स्थापित कर मार्गको सुगम करते, अनुकूल अवस्था उत्पन्न करते तथा बाधाओंको दूर करते हैं। अविद्यामें विद्या, भोगमें त्याग. संसारमें सन्यास, आत्मामें सर्व-भूत, सर्भभूतोंमें आत्मा, भगवानमें जगत् और जगत्में भगवानको देखना ही असली ज्ञान है, और यही मानव जातिका निर्द्धारित स्थानपर जानेके लिये निर्द्दिष्ट मार्ग है। आत्मज्ञानकी संकीर्णता उन्नतिका प्रधान विघ्न और देहात्मक बोध तथा स्वार्थ बोध उस संकीर्णताका मूल कारण है ; अतएव दूसरेको आत्मवत् देखना उन्नतिकी पहली सीढ़ी है। मनुष्य पहले पहल व्यक्ति लेकर रहता है, वह अपनी व्यक्तिगत शारीरिक और मानसिक उन्नति,भोग और शक्ति विकाशमें लीन रहता है। मैं देह हूं, मैं मन हूं, मैं प्राण हूं, शरीरका बल, सुख, सौंदर्य, मनकी तीव्रता, आनन्द स्वच्छता, प्राणका तेज, भोग और प्रफुल्लता जीवनका उद्देश्य तथा उन्नति-की अंतिम अवस्था है, यह सब मनुष्यका पहला आसुरिक ज्ञान है। पर इसका भी प्रयोजन है, क्यों कि देह, मन और प्राणके विकाश तथा परिपूर्णताका पहले साधन करके पश्चात उस विक-शित शक्तिका दूसरोंकी सेवामें प्रयोग करना उचित है। इसीसे राक्षसी शक्ति-विकाश मानव जातिकी सभ्यताकी पहली अवस्था

है, पशु, पक्षी, असुर, और पिशाच तक मनुष्यके मन, कर्म और चरित्रमें लीला करते तथा विकाश पाते हैं। इसके वाद मनुष्य आत्मज्ञानका प्रसार करके दूसरेको आत्मवत् देखना आरम्भ करे तथा दूसरेके हितके लिये अपने स्वार्थको जलाञ्जलि देना सीखे। पहले परिवारको ही आत्मवत् देखे, स्त्री बच्चोंकी प्राण रक्षाके लिये प्राण त्याग करे तथा उनके सुखके लिये अपने सुखको जलाञ्जलि दे। उसके वाद वंश या कुलको आत्मवत् देखे, कुलकी रक्षाके लिये प्राण त्याग करे, अपनेको और स्त्री बच्चोंको वलि दे, कुलके सुख और गौरवकी वृद्धिके लिये अपने और स्त्री बच्चोंके सुखको जलाञ्जलि दे। पश्चात् जातिको आत्मवत् देखे, जातिकी रक्षाके लिये प्राण त्याग करे, अपनेको, स्त्री बच्चोंको तथा कुलको वलि दे,—जैसा कि चित्तौरका राजपूत कुल सारी राजपूत जातिकी रक्षाके लिये वार वार अपनी इच्छासे वलि हुआ,—जातिके सुख और गौरवकी वृद्धिके लिये अपने, स्त्री बच्चों तथा कुलके सुख और गौरव वृद्धिको जलाञ्जलि दे। फिर समस्त मानव जातिको आत्मवत् देखे, मानवजातिकी उन्नतिके लिये प्राण त्याग करे, अपनेको, स्त्री बच्चोंको, कुलको तथा जातिको वलि दे, मानव जातिके सुख और उन्नतिके लिये अपने, स्त्री बच्चोंके, कुलके तथा जातिके सुख और गौरव-वृद्धिको जलाञ्जलि दे। इस प्रकार दूसरेको आत्मवत् देखना, दूसरेके लिये अपनेको और अपने सुखको वलि देना बौद्धधर्म और बौद्ध धर्मोत्पन्न ख्रीष्टधर्मकी प्रधान शिक्षा है। यूरोपकी नैतिक उन्नति इसी मार्गमें अग्रसर हो रही है।

प्राचीन समयमें यूरोप निवासी व्यक्तिको परिवारके लिये और परिवारको कुलके लिये डुवाना सीखे थे, आधुनिक यूरोपियन कुलको जातिके लिये डुवाना सीखे हैं, तथा जातिको मानव जातिके लिये डुवानेका इस समय उनमें कठिन आदर्श कहकर प्रचार हो रहा है ; टालस्टाय आदि पण्डित एवं सोशलिष्ट, अनार्किष्ट इत्यादि नये आदर्श अनुमोदक दल इस आदर्शको कार्यमें परिणत करनेके लिये उत्सुक हुए हैं। यहांतक यूरोपकी पहुच हैं। वे अविद्याके उपासक हैं. प्रकृत विद्या उन्हें प्राप्त नहीं। अन्धम् तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।

भारतमें विद्या और अविद्या दोनों हीको पंडित लोग अधिकारमें किये थे। वे जानते थे कि अविद्याकी पंचप्रतिष्ठासे अलग विद्याकी प्रतिष्ठा भगवान हैं, विना उनके जाने न तो अविद्या ज्ञात ही होती है और न उसपर अधिकार ही होता है। अतएव सिर्फ दूसरेको आत्मवत् देखकर ही नहीं वरं आत्मवत् पर देहेषु अर्थात् अपनेमें और दूसरेमें समान भावसे भगवानको देखते थे। अपना उत्कर्ष करेंगे, अपने उत्कर्षसे परिवारका उत्कर्ष साधित होगा; परिवारका उत्कर्ष करेंगे, परिवारके उत्कर्षसे जातिका उत्कर्ष होगा जातिका उत्कर्ष करेंगे, जातिके उत्कर्षसे मानव जातिका उत्कर्ष साधित होगा; यही ज्ञान आर्य्योंकी सामजिक व्यवस्था और उनकी शिक्षाके मूलमें स्थापित है। परिवारके लिये, कुलके लिये, समाजके लिये, तथा ईश्वरके लिये व्यक्तिगत त्याग करना आर्य्योंका मज्जगत अभ्यास हैं। हमारी शिक्षामें

जो दोष या न्यूनता दिखाई पड़ रही है, वह दोष कई एक ऐतहासिक कारणोंका फल है; जैसे, जातिको हम समाजमें देखते हैं और समाजके हितमें व्यक्तिका तथा परिवारका हित समझते हैं, किन्तु जातिके राजनीतिक जीवनका विकाश हमारे धर्मके अन्तर्गत मुख्य अंग कहकर गृहीत नहीं था। यह पश्चात्य देशोंकी शिक्षाका प्रभाव है। हमारी प्राचीन शिक्षामें महाभारत, गीता, राजपूतनाके इतिहास तथा रामदासकृत दास बोधसे ज्ञात होता है कि यह शिक्षा पहले हमारे देशमें ही थी। अतिरिक्त विद्याको उपासना तथा अविद्याके भयसे हम उस शिक्षाका विकाश नहीं कर सके; क्यों कि उस दोषमें तमसाच्छन्न होनेके कारण जाति धर्मसे च्युत होकर हम कठिन दासत्व, दुःख तथा अज्ञानमें पड़ गये थे। अविद्या पर भी हम अधिकार नहीं कर सके और विद्या भी खोने वैठे थे। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।

श्रीकृष्णका राजनीतिक उद्देश्य

कुल और जाति मानव समाजके क्रमिक विकाश में भिन्न हैं; प्राचीन कालमें वह भिन्नता भारत तथा अन्य देशोंमें परिस्फुट नहीं हुई थी। कितने ही बड़े बड़े कुलोंके समावेशसे एक जाति खड़ी होती थी! वे भिन्न भिन्न कुल एक पूर्व-पुरुषके वंशधर थे; पर भिन्न वंशसे उत्पन्न होते हुए भी ये कुल प्रीति संस्थापनमें एक वंशसे उत्पन्न कहकर ग्रहण करने योग्य हैं। सारा भारत एक बड़ी जाति नहीं हुई, किन्तु जो बड़ी जातियां सारे देशमें फैलकर विराजमान थीं, उनमें एक सभ्यता, एक धर्म एक संस्कृत भाषा एवं विवाह इत्यादि सम्बन्ध प्रचलित था फिर भी प्राचीन कालसे एक करनेकी चेष्टा होती आ रही थी, कभी तो कुरु, कभी पाञ्चाल, कभी कौशल और कभी मगध जाति देशका नेता या सार्वभौम राजा होकर साम्राज्य करती थी; किन्तु पुराना कुल धर्म और स्वाधीनता-प्रियता एकत्वकी ऐसी प्रवल अंतराय सृष्टि करती थी कि वह चेष्टा कभी अधिक दिनोंतक टिक नहीं सकी। भारतमें इस एकत्वकी चेष्टा तथा असपत्न सम्राज्यकी चेष्टा पुण्य कर्म एवं राजाके कर्तव्य कर्ममें गिना जाता था। इस एकत्वका स्रोत इतना प्रवल हो गया था कि चेदिराज. शिशुपालके से तेजस्वी और दूरन्त क्षत्रिय भी युधिष्ठिर को साम्राज्य स्थापन करनेमें पुण्य कर्म समझ.कर योग दान

करनेके लिये सम्मत हुए थे। इस तरह एकत्व साम्राज्य या धर्मराज्यकी स्थापना करना ही श्रीकृष्णका राजनीतिक उद्देश्य था। मगध देशके राजा जरासंधने पहले ही ऐसी चेष्टा की थी, किन्तु उसकी शक्ति अधर्म और अत्याचारपर अवलम्बित होनेके कारण क्षण स्थायी स्थापना समझकर श्रीकृष्णने भीम द्वारा उसका वध करा उस चेष्टाको विफल किया। श्रीकृष्णके कार्यका प्रधान वाधक था गर्वित और तेजस्वी कुरुवंश। कुरु जाति वहुत दिनोंसे भारतका नेतृत्व करनेवाली जाति थी— अंग्रेजीमें जिसे Hegemony कहते हैं अर्थात्, वहुत सी समान स्वाधीन जातिमें प्रधानत्व और नेतृत्व-इससे कुरु जातिका पुरुष परास्परागत अधिकार था। श्रीकृष्ण यह वात अच्छी तरह समझते थे कि, जव तक इस जातिका वल और गर्व अक्षुण्णभाव से रहेगा, तव तक भारतमें एकत्व स्थापित नहीं होगा। इसीसे श्रीकृष्णको कुरु जातिका नाश करनेके लिये दृढ़ निश्चय करना पड़ा किन्तु भारतके साम्राज्यपर कुरु जातिका चिरकालसे अधिकार था, श्रीकृष्ण इस वातको विस्मृत नहीं हुएथे, जो धर्मतः किसीको भी प्राप्य है, उससे उसको वंचित रखना अधर्म समझकर कुरु जातिके न्यायतः राजा और प्रधान युधिष्ठिरको भावी सम्राट के पदपर नियुक्त करनेके लिये श्रीकृष्णने मनोनीत किया था। श्रीकृष्ण परम धर्मिक थे, समर्थ होते हुए भी स्नेहके वशीभूत हो उन्होंने अपने प्रिय यादव कुलको कुरु जातिके राज्य सिंहासन पर वठानेकी चेष्टा नहीं की, और न पाण्डवोंमें ज्येष्ठ युधिष्ठिरको

अवहेलना करके अपने प्रियतम सखा अर्जुनको ही उस पदपर नियुक्त किया। किन्तु केवल उम्र या पूर्व अधिकार देखनेसे अनिष्टकी सम्भावना होती है, अतः गुण और समर्थ्य भी देखना होता है। राजा युधिष्ठिर यदि अधार्मिक, अत्याचारी या अशक्त होते, तो कृष्ण किसी दूसरे व्यक्तिकी खोज करनेके लिये वाध्य होते युधिष्ठिर जिस तरह वंशके क्रमानुसार तथा उचित अधिकार और देशको पुरानी प्रचलित प्रथाके अनुसार सम्राट् होनेके उपयुक्त था, उसी तरह गुणोंसे भी राज्य पदके स्वाभाविक अधिकारी थे। उनकी अपेक्षा तेजस्वी और प्रतिभावना वहुत से वड़े वड़े वीर राजा थे, किन्तु केवल वल और प्रतिभाके कारण कोई राज्यका अधिकारी नहीं होता, धर्मरक्षा, प्रकृतिरञ्जन तथा देशरक्षा करना राजाका प्रधान गुण है। पहले दो गुणों अर्थात्, धर्मरक्षा और प्रकृति रञ्जन करनेमें युधिष्ठिर अतुलनीय थे, वे धर्मक्षत्र,दयावान,न्याय परायणता, सत्यवादी, सत्य प्रतिज्ञ सत्यकर्मा तथा प्रजाके अत्यन्त प्रिय थे। अन्तिम आवश्यक गुण अर्थात् देशरक्षा करनेमें जो उनमें न्यूनता थी, उसे उनके महावीर दो भाई भीम और अर्जुन पूरा करनेमें समर्थ थे। पांचो पाण्डवोंके समान पराक्रमी राजा या वीर पुरुष समकालीन भारतमें दूसरा कोई नहीं था। अतएव कंटक स्वरूप जरा सन्धका वध करके श्रीकृष्णके परामर्शसे राजा युधिष्ठिर ने देशकी प्राचीन प्रणालीके अनुसार राजसूय यज्ञ किया एवं देशके सम्राटका आसन ग्रहण किया।

श्रीकृष्ण धार्मिक और राजनीतिज्ञ थे। देशके धर्म, देशकी प्रणाली और देशके सामाजिक नियमोंके अन्तर्गत कर्म करके यदि उनके महान उद्देश्यकी सिद्धि होनेकी सम्भावना थी, तो फिर वे उस कर्मकी हानि, उस प्रणालीका उल्लङ्घन तथा उस नियमको भङ्ग क्यों करते? अकारण ही इस प्रकार राष्ट्र-विप्लव और समाज-विप्लव करना देशके लिये हानिकारक होता है। यही कारण है कि श्रीकृष्ण पहले पुरानी प्रणालीकी रक्षा करते हुए उद्देश्य-सिद्धिके लिये सचेष्ट हुए थे। किन्तु, देशकी प्राचीन प्रणालीका यह दोष था कि उससे चेष्टा सफल होने पर भी वह फल स्थायी होनेके लिये वहुत ही कम सम्भावना थी। जिनका सामरिक वल वढ़ा हुआ होता, वे राजसूय यज्ञ करके साम्राट हों सकते थे अवश्य किन्तु उनकी भावी सन्ताने तेज हीन होते ही उस उच्च पदसे अपने आप ही गिर पड़तीं थीं ठीक ही है जिस तेजस्वी वीर जातिके लोग उनके पिता या पितामह के बशमें हुए थे, वे विजय करने वालेके पुत्र या पौत्रकी अधीनता स्वीकार क्यों करेंगे? क्योंकि यह वंशगत अधिकार तो है नहीं, राजसूय यज्ञ अर्थात् असाधारण बल बीर्य ही उस साम्राज्यका मूल है, फिर जब जिसका अधिक बल वीर्य होगा तब वह यज्ञ करके सम्राट हो जायगा। अतएव युधिष्ठिरके साम्राज्यके स्थायी होनेकी कोई आशा नहीं थी। थोड़े दिनके लिये प्रधानत्व या Hegemony ही हो सकता था। इस प्रथाका एक और दोष यह था कि, नये नये सम्राटोंके अकस्मात बलके

बढ़ने और प्रधानता पानेसे देश के बलदृप्त असहिष्णु तेजस्वी क्षत्रियोंके हृदयमें ईर्षाकी अग्नि प्रज्वलित हो उठती थी, फिर उनके मनमें इस विचारका सहज ही उठना सम्भव हो जाता था कि अमुक व्यक्ति सम्राट कैसे रहेगा, हम क्यों नहीं होंगे। अस्तु, युधिष्ठिरके कुटुम्बी क्षत्रिय लोग इसी ईर्षाके कारण उनके शत्रु हुए और उसके पितृव्य वंशजोंने चतुरतांसे उन्हें (युधिष्ठिरको) पदच्युत और निर्वासित किया। दोषकी प्रणालीका दोष थोड़े ही दिनोंमें व्यक्त हुआ।

श्रीकृष्ण जिस प्रकार धर्मिक थे उसी प्रकार राजनीतिज्ञ भी थे। वे कभी भी सदोष, अहितकर या समयके अनुपयुक्त प्रणाली, उपाय या नियमको बदलनेमें पीछे नहीं होते थे। वे उस युगके प्रधान विप्लवकारी थे। राजा भूरिश्रवाने श्रीकृष्णको भर्त्सना करनेके समय समकालीन पुराने मतोंके बहुतसे भारतीयोंके उदाहरण देकर कहा था कि, कृष्ण और कृष्णकी आज्ञापर चलनेवाले यादव कुलके लोग कभी भी धर्मके विरुद्ध वर्त्ताव करने या धर्मको नष्ट करनेमें कुण्ठित नहीं होते, जो कृष्णकी रायसे काम करेगा वह निश्चयही बहुत शीघ्र पापमें पतित होगा। क्यों नहीं पुरानी लकीरके पीछे फकीर रहनेवालोंके मनमें नया साहस ही पाप हैं। श्रीकृष्णने युधिष्ठिरके पतनमें समझा, क्यों न समझते, वे भगवान थे, पहले ही जानते थे.–कि, द्वापरयुगकी उपयोगी प्रथा कलिके लिये कभी भी मान्य नहीं। अतएव उन्होंने और उस तरहकी चेष्टा नहीं की, कलिके उचित भेद-दण्ड प्रधान राज-

नीतिका अनुसरण कर गर्वित दृप्त क्षत्रिय जातिके वलके नाशसे भविष्यके साम्राज्यको निष्कंटक करनेमें सचेष्ट हुए। उन्होंने कौरवोंके पुराने समकक्ष शत्रु पाञ्चाल जातिको कुरु-ध्वंश करने के लिये तैयार किया, जितनी जातियां कौरवोंके द्वेषसे युधि-ष्ठिरके प्रेम या धर्मराज और एकताकी आकांक्षामें आकृष्ट हो सकीं, सवको उसी पक्षमें खींच लिया एवं युद्धका उद्योग कराया। जो सन्धिकी चेष्टा हुई उसमें श्रीकृष्णकी आस्था नहीं थी, वह जानते थे कि सन्धिकी सम्भवना नहीं है और यदि सन्धि स्थापित भी होगी तो वह स्थायी नहीं हो सकती। इतने पर भी धर्म और राजनीतिके खातिरन वह सन्धिकी चेष्टामें प्रवृत्त हुए इसमें सन्देह नहीं कि, कुरुक्षेत्रका युद्ध श्रीकृष्णकी राजनीतिका फल था और कुरुध्वंस, क्षत्रियध्वंस निष्कंटक साम्राज्य तथा भारतका एकत्व स्थापन उनका उद्देश्य था। धर्मराज्य स्थापन के लिये जो युद्ध था वह धर्मयुद्ध था, उस धर्मयुद्धका ईश्वर-का निर्द्दिष्ट किया हुआ विजेता था दिव्य शक्ति प्राप्त महारथी अर्जुन। अर्जुनके शस्त्र त्याग करनेसे श्रीकृष्णका राजनीतिक परिश्रम विफल होता जिससे भारतका एकत्व साधित न होता और देशके भविष्यमें वहुत शीघ्र घोर कुफल पैदा होता।

भ्रातृवध और कुल नाश

अर्जुनकी सारी युक्ति कुलके हितके लिये थी, स्नेहके वशमें होनेके कारण उनके मनमें जातिके हितकी चिन्ता संकुचित हुई थी। वह कुरुवंशके हितके लिये भारतका हित भूल गये थे, अधर्मके भयसे धर्मको जलाञ्जलि देनेके लिये कमर कसकर तैयार थे। यह बात सब लोग जानते हैं कि स्वार्थके लिये भ्रातृवध करना महापाप है, किन्तु भ्रातृ प्रेमके कारण जातिके अनर्थ होनेमें सहायक होने तथा जाती य हित साधनसे विमुख होनेका; पाप उससे महान है। अर्जुन यदि शस्त्रत्याग करते हैं तो अधर्मकी जीत होगी, दुर्योधन भारतमें प्रधान राजा और सारे देशका नेता होकर जातीय चरित्र और क्षत्रिय कुलके आचरणको अपनी कुदृष्टिसे कलुषित करेगा, भारतके प्रबल पराक्रान्त समस्त कुल स्वार्थ, ईर्षा और विरोध प्रियताकी प्रेरणासे एक दूसरेका नाश करनेके लिये उद्यत होंगे, देशको एकत्रित नियंत्रित और शक्तिके समावेशमें सुरक्षित करनेके लिये कोई निष्कंटक धर्म प्राण राजशक्ति नहीं रहेगी, ऐसी अवस्थामें जो विदेशी आक्रमण उस समय भी रुके हुए समुद्रकी

तरह भारत पर पड़कर उसका नाश करनेके लिये प्रस्तुत हो रहा था, वह असमयमें आकर आर्योंकी सभ्यता नष्ट करके जगत्में भावी हितकी आशा निर्मूल करता। श्रीकृष्ण और अर्जुन द्वारा स्थापित साम्राज्यके नाशसे दो सहस्रवर्ष बाद भारतमें जो राजनीतिक उत्पात आरम्भ हुआ था, वह उसी समय आरम्भ हुआ होता।

लोग कहते हैं कि अर्जुनने जिस अनिष्टके भयसे यह आपत्ति की थी, कुरुक्षेत्र युद्धके कारण ठीक वही अनिष्ट हुआ। भ्रातृवध, कुल नाश, जातिनाश ये कुरुक्षेत्र युद्धके ही फल हैं। कुरुक्षेत्र युद्ध ही कलिके प्रारम्भ होनेका कारण है। इस युद्धमें भीषण भ्रातृवध हुआ, यह सत्य है। पर देखना यह है कि, इसके सिवा और किस उपायसे श्रीकृष्णका महान उद्देश्य साधित होता? इसी लिये ही श्रीकृष्णने सन्धि-प्रार्थनाकी विफलता जानते हुए भी सन्धिस्थापनके लिये पूर्ण चेष्टा की, यहां तक कि पांच गांव भी वापस मिलनेसे युधिष्ठिर युद्धमें प्रवृत्त न होते, पैर रखनेके लिये इतना ही स्थान पानेसे श्रीकृष्ण धर्मराज्य स्थापित कर सकते। किन्तु दुर्योधनका दृढ़ निश्चय था कि, शूच्याग्रंनैव दास्यामि विना युद्धेन केशव। जिस समय सारे देशका भविष्य युद्धके फल पर निर्भर करे, उस समय भ्रातृवधके भयसे महान कर्म्मको न करना अधर्म है। परिवारके हितको जाति और जगत्के हितके लिये छोड़ना चाहिये, भाईके स्नेह और पारिवारिक भलाईके मोहमें पड़कर करोड़ों मनुष्योंका सर्वनाश करना ठीक नहीं, न करोंड़ो

मनुष्योंके भावी सुख या दुःखमोचनको नष्ट करना ही ठीक है, क्योंकि उससे भी व्यक्तिको और कुलको नरक प्राप्त होता है।

कुरुक्षेत्रके युद्धमें कुलका नाश हुआ था, यह बात ठीक है। इस युद्धके कारण महा प्रतापान्वि कुरुवंशका एक तरहसे लोप हो गया। किन्तु कुरुजातिके लोप होनेसे यदि सारे भारतकी रक्षा हुई, तो फिर उस कुरुवंशके नाशसे क्षति न होकर लाभ ही हुआ समझना चाहिये। जैसे पारिवारिक हितकी माया है, वैसे ही कुल पर भी माया है। देश भाईको हम कुछ नहीं कहेंगे, देशवासीके साथ विरोध नहीं करेंगे, वे अनिष्ट करते, आततायी होते, देशका सर्वनाश करते हुए भी भाई और स्नेहके पात्र हैं, चूं तक न करके हम सब कुछ सहन करेंगे, हम लोगोंमें जो वैष्णवी मायासे उत्पन्न अधर्म और धर्मके उदयसे बहुतोंकी बुद्धि नष्ट होती है, वह कुलकी मायाके मोहसे उत्पन्न है। अकारण या स्वार्थके लिये, नितान्त प्रयोजन और आवश्यकताके अभावमें देश भाइयोंके साथ विरोध और कलह करना अधर्म है। किन्तु जो देश भाई जन्मभूमिके अनिष्ट करनेमें कटिबद्ध व्यक्तिको चुपचाप देखता हुआ उसे सहन करता है वह मातृ हत्या या अनिष्ट व्यवहारको आश्रय देकर और भी गुरुतर पाप करता है। शिवाजी जिस समय मुसलमानोंके पृष्ठपोषक देश भाइयोंका संहार करनेके लिये गये, उस समय यदि कोई कहता कि, अहा! क्या करते हो, ये देशभाई हैं, चुपचाप सहन करो, यदि मुगल महाराष्ट्र देश पर अपना अधिकार करें तो करने दो, मराठोंमें

ही प्रेम रक्खो, तो क्या यह बात बिलकुल ही हास्यजनक प्रतीत न होती? अमेरिकनोंने जिस समय दासत्व प्रथा उठानेके लिये देशमें विरोध और अन्तस्थ युद्ध आरम्भ करके हजारों भाइयों-का संहार किया, था उस समय क्या उन्होंने कुकर्म किया था? ऐसी अवस्थामें देश भाइयोंके साथ विरोध तथा देश भाइयोंको युद्धमें मारना ही जाति और जगत्की भलाईका एकमात्र उपाय होता है! इससे यदि कुलके नाशकी आशंका हो तो भी जाति और जगत्के हितसाधनमें शान्त नहीं होना चाहिये। अवश्य ही यदि कुलकी रक्षा करना जातिकी भलाईके लिये आवश्यक हो, तो समस्या जटिल होती है। महाभारतके युगमें भारतमें जाति स्थापित नहीं हुई थी। उस समय सब लोग अपने कुलको ही मानव जातिका केन्द्र जानते थे। इसी लिये भीष्म, द्रोण प्रभृति जो कि पुरानी विद्याके आकर थे, पांडवोंके विरुद्ध युद्ध किये थे। वे जानते थे कि धर्म पांडवोंकी ओर रहनेमें था, यह भी जानते थे कि महान साम्राज्यकी स्थापनामें सारे भारतको एक केन्द्रमें बांधनेकी आवश्यकता थी। किन्तु वे यह भी जानते थे कि कुल ही धर्मकी प्रतिष्ठा और जातिका केन्द्र है, कुलके नाश हो जानेसे धर्मकी रक्षा और जातिकी स्थापना असम्भव है। अर्जुन भी इस भ्रममें पड़ गये थे। इस युगमें जाति ही धर्मकी प्रतिष्ठा और जातिका केन्द्र है। जाति रक्षा ही इस युगका प्रधान धर्म तथा जाति नाश ही इस युगका ऐसा महापाप है जिससे किसी प्रकार छुटकारा नहीं हो सकता। किन्तु ऐसा भी युग आ

सकेता था जब कि एक बृहत् मानव समाज प्रतिष्ठित करनेके लिये उस समय कदाचित् जगत्के बड़े बड़े ज्ञानी और कर्मी जातिकी रक्षाके लिये युद्ध करेंगे और दूसरी ओर श्रीकृष्ण विप्लवकारी होकर नया कुरुक्षेत्र युद्ध तैयार करके जगत्का हित साधन करेंगे।

श्रीकृष्णकी राजनीतिका फल

पहले कृपाके आवेशमें अर्जुन कुलके नाश पर अधिक चिन्तित हुआ, क्योंकि बहुत बड़ी सेनाको देखकर कुलकी और जातिकी चिन्ता अपने आपही मनमें उठ गयी। कहा जा चुका है कि कुलकी चिन्ताका होना उस समयके भारतवासियोंके लिये स्वाभाविक थी। जिसप्रकार जातिके हितकी चिन्ता वर्तमान समयकी मनुष्य जातिके लिये स्वाभाविक है। किन्तु कुलके नाश होनेसे जातिकी प्रतिष्ठाका नाश होगा, यह आशंका क्या निर्मूलक थी? बहुतसे लोग कहते हैं कि, अर्जुनको जिस बातका भय था, वास्तवमें वही हुआ, कुरुक्षेत्र युद्ध भारतकी अवनति और दीर्घकाल व्यापी पराधीनताका मूल कारण है। तेजस्वी क्षत्रिय कुलके नाश और क्षात्र तेजके ह्राससे भारतका विषम अमंगल हुआ है। एक सुप्रसिद्ध विदेशी महिला, जिसके चरणोंमें बहुतसे हिन्दू अभी शिष्य भावसे मस्तक झुकाते हैं, यह कहनेमें भी संकुचित नहीं हुई कि क्षत्रियोंके नाशसे अंग्रेजोंके साम्राज्य स्थापनका मार्ग सुगम करना ही स्वयं भगवान श्रीकृष्णके अवतीर्ण होनेका असली उद्देश्य था। हमारी धारणा है कि,

जो लोग इस तरहकी वेतुकी बातें कहते हैं, वे विषयको विना समझे अत्यन्त ओछे राजनीतिक तत्वोंके वशवर्त्ती होकर श्रीकृष्ण-की राजनीतिका दोष दिखाते हैं। यह राजनीतिक तत्व म्लेच्छ-विद्या और अनार्योंकी चिन्ता प्रणालीसे उत्पन्न है। अनार्य लोग आसुरिक वलसे वली और उसी वलको स्वाधीनता और जातीय महत्वकी एक मात्र भित्ति कहना जानते हैं।

जातीय महत्त्व केवल क्षत्रातेजपर स्थापित नहीं हो सकता, चारों वर्णों का चतुर्विध तेज ही उस महत्त्व की स्थापना है। सात्विक ब्रह्मतेज राजसिक क्षात्रतेजको ज्ञान, विनय और दूसरोंके हितकी चिन्ताकी मधुर संजीवनी सुधामें जीवित रखती है और क्षात्रतेज शान्त ब्रह्मतेजकी रक्षा करता है। क्षत्रतेजसे रहित ब्रह्मतेज तमोभाव द्वारा घिरकर शूद्रत्वके निकृष्ट सब गुणोंको आश्रय देता है, अतएव जिस देशमें क्षत्रिय नहीं रहते, उस देशमें ब्राह्मणोंका रहना निषिद्ध ठहराया गया है। यदि क्षत्रिय-वंशका लोप हो जाय तो नये क्षत्रियोंको कायम करना ब्राह्मणोंका प्रथम कर्त्तव्य है। ब्रह्मतेज-रहित क्षात्रतेज दुर्दान्त उद्दाम आसु-रिक वलमें समिलित हो पहले दूसरेके हितका नाश करनेमें चे-ष्टित होता और फिर अन्तमें स्वयं नष्ट हो जाता है। एक रोमन कविने ठीक कहा है कि, असुर लोग अपने वलातिरेकसे पतित होकर जड़से नष्ट हो जाते हैं। सत्त्व रजको उत्पन्न करेगा और रज सत्वकी रक्षा करता हुआ सात्विक कार्यमें नियुक्त होगा, जिससे व्यक्ति और जातिका मङ्गल होना सम्भव है। सत्व यदि

रजको निगल जाय और रज सत्वको निगल जाय तो तमके प्रादुर्भावसे विजयी गुण स्वयं पराजित होता और तमोगुणका ही राज्य होता है। ब्राह्मण कभी भी राजा नहीं हो सकते। क्षत्रियोंका नाश होनेसे शूद्र राजा होंगे, ब्राह्मण तामसिक हो धनकी लालचसे ज्ञानको विकृत करके शूद्रोंके दास होंगे, आध्यात्मिक भाव निश्चेष्टताको पोषण करेगा और स्वयं खिन्न होकर धर्मकी अवनतिका कारण होगा। विना क्षत्रियोंके शूद्र-शासित जातिकी दासता अवश्यम्भावी है। भारतमें यही अवस्था घट रही है। दूसरी ओर आसुरिक बलके प्रभावसे क्षणिक उत्तेजनामें शक्तिका सञ्चार और महत्व हो सकता है अवश्य, किन्तु शीघ्र ही सम्भवतः दुर्बलता, ग्लानि और शक्तिका नाश होनेके कारण देश ढोला पड़ जाता है, अथवा राजसी भोग, दम्भ और स्वार्थके बढ़ जानेसे जाति अनुपयुक्त हो महत्वकी रक्षा करनेमें असमर्थ होती या भीतरी विरोध, दुर्नीति और अत्याचारसे देश मटियामेट होकर शत्रुके पंजेका शिकार हो जाता है। भारत और यूरोपके इतिहासमें इन सब परिणामोंके अनेकानेक उदाहरण पाये जाते हैं।

महाभारतके समयमें आसुरिक बलके भारसे पृथ्वी अस्थिर हो गई थी। भारतमें ऐसा तेजस्वी पराक्रमशाली प्रचण्ड क्षत्रियोंके तेजका विस्तार न तो पहले ही कभी था और न बाद ही हुआ, किन्तु उस भीषण बलके सदुपयोग होनेकी सम्भावना बहुत ही कम थी। जो लोग इस बलके आधार थे, वे सभी असुर

प्रकृतिके थे, अहङ्कार, दर्प, स्वार्थ और स्वेच्छाचार उनके मज्जागत था। यदि श्रीकृष्ण इस वलका नाश करके धर्मका राज्य स्थापन न करते, तो जिन तीन तरहके परिणामोंका वर्णन हमने किया है उन तीनोंमें से एक न एक निश्चय ही होता। भारत असमयमें ही म्लेच्छोंके हाथमें पड़ता। स्मरण रखना चाहिये कि पांच हजार वर्ष पहले कुरुक्षेत्र युद्ध हुआ है, ढाई हजार वर्ष बीतने वाद म्लेच्छोंका पहला आक्रमण हुआ और वे सिन्धु नदके इस पारतक पहुंचनेमें सफल हुए हैं। अतएव अर्जुन द्वारा स्थापित धर्मराज्यने इतने दिनों (ढाई हजार वर्ष) तक ब्रह्मतेज और क्षत्रतेजके प्रभावसे देशकी रक्षा की है। उस समय भी सञ्चित क्षात्रतेज देशमें इतना था कि उसके थोड़े अव-शेष अंशने ही दो हजार वर्ष तक देशको वचा कर रखा। चन्द्र-गुप्त, पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, विक्रम, संग्रामसिंह, प्रताप, राजसिंह, प्रतापादित्य, शिवाजी इत्यादि महापुरुषोंने उस क्षात्रतेजके वलसे ही देशके दुर्भाग्यके साथ संग्राम किया है। किन्तु अभी हालहीमें गुजरात युद्धमें और लक्ष्मीवाई (झांसीकी रानी) की चितामें उसका वचा हुआ अंश जल कर लोप हो गया। उस समय श्रीकृष्णके राजनीतिक कार्यका सुन्दर फल और पुण्य नाश हो गया और भारतको जगत्की रक्षा करनेके लिये फिर पूर्णावतार की आवश्यकता हुई। उस अवतारके फिर लुप्त ब्रह्मतेजको प्रकट करनेसे, वह ब्रह्मतेज क्षात्रतेज उत्पन्न करेगा। श्रीकृष्णने भारतके क्षात्रतेजको कुरुक्षेत्रके रक्त सागरमें वहा नहीं दिया, वरं आसु-

रिक बलका नाश करके ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज दोनों हीकी उन्होंने रक्षा की है। उन्होंने आसुरिक बलदृप्त क्षत्रिय-वंशके संहारसे उद्दाम रजशक्तिको छिन्नभिन्न कर दिया, यह ठीक है। इस प्रकार महाविप्लव, भीतरी विरोधके उत्कट भोग द्वारा नाश करके निगृहीत करना, उद्दाम क्षत्रियकुलका संहार सर्वथा अनिष्टकर नहीं है। भीतरी विरोधसे रोमन क्षत्रियकुल नाश और राजतन्त्र स्थापनसे रोमके विराट् साम्राज्यने अकाल ही नाशके ग्राससे रक्षा पायी था। इङ्गलैण्डमें श्वेत और रक्त गुलाबके भीतरी विरोधके कारण क्षत्रियकुलके नाशसे चौथे एडवर्ड, अष्टम हेनरी और रानी एलिजबेथने सुरक्षित पराक्रमशाली संसारविजयी आधुनिक इङ्गलैण्डकी भित्ति स्थापित करने पायी हैं। कुरुक्षेत्र युद्धमें भारतने भी वैसी ही रक्षा पायी।

कलियुगमें भारतको अवनति हुई है, यह कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। किन्तु अवनति आनयन करनेके लिये भगवान कभी अवतीर्ण नहीं होते। धर्मरक्षा, विश्वरक्षा तथा लोक रक्षाके लिये अवतार है। खास करके कलियुगमें ही भगवान पूर्ण रूपसे अवतीर्ण होते हैं, इसका कारण यह है कि, कलिमें मनुष्यकी अवनतिका अधिक डर रहता है और स्वाभाविक ही अधर्म बढ़ता है, अतएव मानवजातिकी रक्षा, अधर्मनाश, धर्म-स्थापन और कलिकी गतिको रोकनेके लिये इस युगमें फिर फिर अवतार होता है। श्रीकृष्ण जब अवतीर्ण हुए, कलिके राज्यका आरम्भ होनेका समय था, उन्हीके आविर्भावसे डर कर कलि

अपने राज्यमें भी पैर नहीं रखने पाता, उन्हींके प्रसादसे परीक्षितने कलिको पांच गांव दान करके उसीके युगमें उसका एकाधिपत्य स्थगित रक्खा। जो कलियुगके प्रारम्भसे अन्ततक कलिके साथ मनुष्यका घोर युद्ध चल रहा है और चलेगा, उस संग्रामके सहायक और नायक रूपमें भगवानके अवतार और विभूतिका कलिमें बार बार आना है, उस संग्रामके उपयोगी ब्रह्मतेज, ज्ञान, भक्ति, निष्काम कर्मकी शिक्षा और रक्षा करनेके लिये भगवानका कलिके मुखमें मानव शरीरका धारण करना है। भारतकी रक्षा मानव-कल्याणकी भित्ति और आशास्थल है। भगवानने कुरुक्षेत्रमें मानव समाजकी रक्षा की है। उस रक्त समुद्रमें नये जगत्के लीलापद्मपर कालरूपी विराट् पुरुषने विहार करना आरम्भ किया था।

द्वितीय अध्याय।

सञ्जयउवाच।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

सञ्जयने कहा—

इस प्रकार करुणासे व्याप्त, आँखोंमें आँसू भरे हुए और विषाद पानेवाले अर्जुनसे मधुसूदन (श्रीकृष्ण) यह बोले—

श्रीभगवानुवाच।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

श्री भगवानुवाच—

हे अर्जुन! संकटके इस प्रसंगपर यह मोह कहांसे आ गया, जिसका कि आर्यों ने आचरण नहीं किया, जो अधोगति को पहुंचानेवाला है और जो दुष्कीर्त्तिकारक है?

क्लैव्यंमास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

हे पृथाके पुत्र अर्जुन! हे शत्रुदमनमें समर्थ कादरता मत ग्रहण करो, यह तुम्हारे लिये बिलकुल अनुपयुक्त है। इस "क्षुद्र मनकी दुर्बलताका त्याग करके उठो।

श्रीकृष्णका उत्तर ।

श्रीकृष्णने देखा कि अर्जुन कृपाके वशीभूत हो गया है, विषादने उसको अपना ग्रास बना लिया है । इस तामसिक भावको दूर करनेके लिये अन्तर्यामीने अपने प्रिय सखाको क्षत्रियोचित तिरस्कार किया, जिससे उसमें राजसिक भाव जागरित होकर तमको दूर करे। उन्होंने कहा कि, देखो यह तुम्हारे पक्षका सङ्कटकाल है, इस समय यदि तुम अस्त्र परित्याग करोगे तो उससे पूर्ण विपत्ति और नाशकी सम्भावना है। रणक्षेत्रमें अपने पक्षका त्याग करना तुम्हारे समान क्षत्रिय श्रेष्ठके मनमें उठनेकी बात नहीं, कहांसे हठात् यह दुर्बुद्धि तुम्हारी हो गई ? तुम्हारा भाव दुर्बलतापूर्ण और पापपूर्ण है। अनार्य लोग इस भावकी प्रशंसा करते हैं, उसके वशमें रहते हैं, किन्तु आर्य्योंके लिये यह भाव सर्वथा अनुचित है, यह परलोककी स्वर्ग प्राप्तिमें विघ्न डालनेवाला एवं इस लोकमें यश और कीर्त्तिको लोप करनेवाला है। इसके अतिरिक्त भगवानने और भी अर्जुनका तिरस्कार किया। यह भाव कादरतापूर्ण है, तुम वीर श्रेष्ठ हो, तुम जेता हो, तुम कुन्तीके पुत्र हो, भला तुम इस तरह बात कहते हो ? हृदयकी इस दुर्बलताको छोड़ो, और उठो, तुम अपने कर्त्तव्य कर्ममें उद्योगी हो।

कृपा और दया ।

कृपा और दया स्वतन्त्र भाव हैं, इतना ही क्यों कृपा दयाका विरोधी भाव भी हो सकता है। हम दयाके वशीभूत हो जगत्का कल्याण करते हैं, मनुष्यके दुःख, जातिके दुःख, दूसरोंके दुःखको मोचन करते हैं। यदि अपने दुःख या व्यक्ति विशेषके दुःखको सहन न कर सकनेके कारण उस कल्याण साधनमें निवृत्त होते हैं, तो वह हमारी दया नहीं, कृपाके आवेशमें होना है। समस्त मानव जातिका या देशका दुःखमोचन करनेके लिये उठना, यह भाव दयाका है। रक्तपानके भयसे, प्राणोहिंसाके भयसे उस पुण्य कार्यसे विरत होना, जगतके और जातिके दुःखकी चिरस्थायितामें साथ देना, यह भाव कृपाका है। लोगोंके दुःखमें दुखी होकर जो दुःखमोचन को प्रबल प्रवृत्ति है उसको दया कहते हैं। दूसरोंके दुःखको चिन्तामें या दुःखको देखनेसे कातर होना, इस भावको कृपा कहते हैं। कातरता दया नहीं, कृपा है। दया बलवानोंका धर्म है और कृपा दुर्बलोंका धर्म है। दयाके आवेश में बुद्धदेव स्त्री-पुत्र, पिता-माता, बन्धुबांधवोंको दुःखी और हृतसर्वस्व करके जगतका दुःखमोचन करनेके लिये निर्गत हुए थे। तीव्र दयाके आवेशमें उन्मत्त कालीने जगतमय आसुरोंका संहार करके पृथ्वीको रक्तप्लावित करके सबका दुःखमोचन किया। अर्जुनने कृपाके आवेशमें शस्त्र परित्याग किया था।

यह भाव अनार्यों द्वारा प्रशंसित है और उन्हीं द्वारा आचरित है। आर्यों की शिक्षा उदार, वीरोचित; देवताओंकी शिक्षा है। अनार्य लोग मोहमें पड़कर अनुदार भावको धर्म कह उदार धर्मका परित्याग करते हैं। अनार्य लोग राजसिक भावमें भावान्वित होकर अपना, प्रियजनोंका तथा परिवारका या कुलका हित देखते हैं। विराट कल्याण नहीं देखते, कृपाके कारण धर्म विमुख हो अपनेको पुण्यवान कहकर गर्व करते हैं और कठोरव्रती आर्योंको निष्ठुर और अधार्मिक कहते हैं। अनार्य तामसिक मोहमें मुग्ध होकर अप्रवृत्तिको निवृत्ति कहते और सकाम पुण्यप्रियताको धर्मनीतिका ऊंचा आसन प्रदान करते हैं। दया आर्यों का भाव है। कृपा अनार्यों का भाव है।

पुरुष दयाके वशीभूत हो वीर भावसे दूसरोंके अमंगल और दुःखको नाश करनेके लिये अमङ्गलके साथ युद्ध करनेमें प्रवृत्त होता है। स्त्री दयाके वशीभूत हो दूसरोंके दुःखलाघवके लिये शुश्रूषा, यत्न और दूसरोंके हितकी चेष्टामें प्राण और शक्तिको ढाल देती है। जो लोग कृपाके वशीभूत हो अस्त्र परित्याग करते और धर्मसे विमुख होकर कहते हैं, मैं कर्त्तव्य कर रहा हूं, मैं पुण्यवान हूं—वे कादर हैं। यह भाव क्षुद्र और दुर्बलताका सूचक है। विषाद कभी धर्म नहीं हो सकता। जो विषादको आश्रय देते हैं वे पापको आश्रय देते हैं। इस चित्तकी मलिनता, इस अशुद्ध और दुर्बल भावको छोड़कर युद्धमें तत्पर हो कर्त्तव्य पालनसे जगतकी रक्षा, धर्मकी रक्षा और पृथ्वीका भार हल

का करना ही श्रेय है। यही श्रीकृष्णकी इस उक्तिका असली अभिप्राय है।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणांच मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा—

हे मधुसूदन हे अरि सूदन मैं युद्धमें पूज्य भीष्म और द्रोणके साथ बाणोंसे कैसे लड़ूंगा ?

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थ कामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान ॥

गुरुजनोंको न मारकर इस लोकमें भीख मांगकर समय बिताना श्रेयस्कर हैं, क्योंकि अर्थ और काम लोलुप गुरुजनोंको मारकर इसी जगतमें रक्तसे भरे हुए भोग भोगने पड़ेंगे।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीन्यो यद्वा जयेम यदि वा नोजयेयुः
यानेव हत्वा न जिजीविषाम स्तेवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्टाः ॥६॥

हम जय प्राप्त करें या पराजय—इन दोनों बातोंमें श्रेयस्कर कौन हैं यह भी हमें नहीं समझ पड़ता। जिन्हें मारकर हमें जीवित रहनेकी इच्छा न रहेगी वे ही ये कौरव सामने खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ़चेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहितन्मे
शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

कृपा और दया।

दीनतासे मेरी स्वाभाविक वृत्ति नष्ट हो गयी है, धर्माधर्मके सम्बन्धमें मेरी बुद्धि विमूढ़ हो गई है, इसलिये मैं तुमसे पूछता हूं जो निश्चयसे श्रेयस्कर हो, वह मुझे बतलाओ। मैं तुम्हारा शिष्य हूं। मुझे शरणगतको शिक्षा दो।

न हि प्रपश्यामिममापनुद्यात्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्न मृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

क्योंकि पृथ्वीका निष्कंटक राज्य या देवताओंका भी अधिपत्य मिल जाय, तथापि मुझे ऐसा कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता कि जो इन्द्रियोंके सुखा डालनेवाले मेरे इस शोकको दूर करे।

अर्जुनकी शिक्षा प्रार्थना

कृष्णकी उक्तिका उद्देश्य अर्जुनने समझ लिया, वे राजनीतिक आपत्तिका उत्थापन करनेसे विरत हुए; किन्तु और जो आपत्तियाँ थीं, उनका कोई उत्तर न मिलनेके कारण श्रीकृष्णके समीप शिक्षाके लिये शरणागत हुए। उन्होंने कहा कि, "मैं स्वीकार करता हूं कि मैं क्षत्रिय हूं, कृपाके वशीभूत होकर महान कार्यसे विरत होना मेरे लिये कादरता सूचक अकीर्त्ति-जनक और धर्मविरुद्ध है। किन्तु न तो मन ही मानता है और न प्राण ही। मन कहता है, गुरुजनोंकी हत्या करना महापाप है, अपने सुखके लिये गुरुजनोंकी हत्या करनेसे अधर्ममें पतित होकर धर्म मोक्ष, परलोक, जो वाँछनीय हैं, सभी नष्ट होंगे। कामना तृप्त होगी, अर्थ स्पृहा तृप्त होगी, किन्तु वह चन्द दिनोंके लिये। अधर्मलब्ध भोग प्राण त्याग तक स्थायी है, उसके बाद अकथनीय दुर्गति होती है। और जिस समय भोग करूंगा, उस समय उस भोगमें गुरुजनोंके रक्तका स्वाद पाकर क्या सुख या शाँति मिलेगी? प्राण कहता है, ये मेरे प्रिय जन हैं, इनकी हत्या करनेसे मैं इस जन्ममें कुछ भी सुख भोग नहीं कर सकता,

बचना भी नहीं चाहता। तुम यदि मुझे सारी पृथ्वीके साम्राज्यका भोग दो या स्वर्ग लोकको जीतकर इन्द्रका ऐश्वर्य भोग भी दो तो भी मैं नहीं लूंगा। जो शोक मुझे अभिभूत करेगा उसके द्वारा सारी कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां आच्छन्न और अवसन्न होकर अपने अपने कार्यमें शिथिल और असमर्थ हो जायँगी, उस समय तुम क्या भोग करोगे? यह मेरे विषम चित्तकी दीनता उपस्थित है, महान क्षत्रिय स्वभाव उस दीनतामें डूब गया है। मैं तुम्हारी शरणमें हूं। मुझे ज्ञान शक्ति और श्रद्धा दो और श्रेयस्कर मार्ग दिखाकर मेरी रक्षा करो।"

भगवानके समीप पूर्णरूपसे शरणागत होना ही गीतोक्त योग का अधिकारी होना है। इसीको आत्मसमर्पण या आत्मनिवेदन कहते हैं। जो लोग भगवानको गुरु प्रभु, सखा तथा पथ प्रदर्शक समझ और सब धर्मोंको जलाञ्जलि देनेके लिये प्रस्तुत होते हैं तथा पाप-पुण्य, कर्त्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य और मङ्गल-अमङ्गलका विचार न करके अपने ज्ञान-कर्म और साधनाका सारा भार श्रीकृष्णको अर्पण करते हैं, वे ही गीतामें वर्णित योगके अधिकारी हैं। अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा है कि, तुम यदि गुरु-हत्या भी करनेके लिये कहो और यह समझा दो कि यह धर्म और कर्त्तव्य है, तो मैं वही करूंगा। इस गम्भीर श्रद्धाके कारण ही अर्जुन समसामयिक सब महा पुरुषोंको अतिक्रम करके गीतोक्त शिक्षाका श्रेष्ठ पात्र कह कर गृहीत हुए।

उत्तरमें श्रीकृष्णने पहले अर्जुनकी दोनों अपत्तियोंका खण्डन किया, उसके बाद गुरुका भार ग्रहण करके उन्होंने असली ज्ञान देना आरम्भ किया। ३८श्लोकों तक आपत्तियोंका खण्डन है बाद गीताकी शिक्षाका आरम्भ होता है। किन्तु इस आपत्ति खण्डनमें कई एक ऐसी अमूल्य शिक्षाएं पायी जाती हैं, जिनके विना समझे गीताकी शिक्षा हृदयङ्गम नहीं होती। उन कई एक शिक्षाओंकी विस्तृत आलोचना करना आवश्यक है।

संजय उवाच।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूवह ॥ ९ ॥

संजयने कहा—

इस प्रकार शत्रु संतापी गुडाकेश यानी अर्जुनने हृषीकेश (श्री कृष्ण) से कहा, और "मैं न लड़ूंगा" कहकर चुप हो गया।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्येविषीदन्त मिदंवचः ॥ १० ।

हे भारत (धृतराष्ट्र)! दोनों सेनाओंके बीच खिन्न होकर बैठे हुए अर्जुनसे श्रीकृष्ण कुछ हँसते हुएसे बोले।

श्री भगवान् वाच

अशोच्यानन्व शोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः ॥ ११ ॥

जिनके लिये शोक करनेका कोई भी कारण नहीं, तू उन्हींके लिये शोक कर रहा है और ज्ञानीकी तरह ज्ञानकी बात लेकर

वाद विवाद करनेकी चेष्टा करता है, किन्तु जो तत्वज्ञानी हैं वे मृत या जीवित किसीका भी शोक नहीं करते।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

यह भी तो नहीं कि मैं पहले कभी न था या तू और ये राजा लोग न थे; ऐसा भी नहीं है कि हम सब लोग (देह त्यागके बाद) अब आगे नहीं रहेंगे।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १४॥

जिस प्रकार इस शरीरमें जीवको बालकपन, जवानी और बुढ़ापावस्था प्राप्त होती है उसी प्रकार दूसरी देह प्राप्त हुआ करती है। इस विषयमें स्थिर बुद्धि ज्ञानीको मोह नहीं होता।

मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुख दुःखदाः।
आगमा पायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥

हे कुन्ती पुत्र! मरण कुछ भी नहीं है, विषय स्पर्शसे शीत उष्ण, सुख, दुःख इत्यादि जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, वह सब अनित्य हैं उन सभोंको स्थिर होकर तू सहन कर।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःख सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥

जो ज्ञानी पुरुष यह सब स्पर्श भोग करते हुए भी उनसे व्यथित नहीं होता, सुख दुःखको समान मानता है, वही मृत्युको जीतनेमें समर्थ होता है।

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।
उभयोरपिदृष्टोऽतस्त्वनयोस्तत्त्व दर्शिभिः ॥ १६ ॥

जो नहीं (असत्) है, वह (सत्) हो ही नहीं सकता, और जो है (सत्) उसका विनाश नहीं होता; तत्त्व ज्ञानियोंने सत् और असत्, दोनोंका अन्त देख लिया है।

अविनाशि तु तद्विध्दि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

किन्तु इस दृश्य जगत्को जिसने फैलाया है वह अविनाशी है। उसका नाश कोई भी नहीं कर सकता।

अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताःशरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

जो शरीरका स्वामी (आत्मा) नित्य, अविनाशी और अचिन्त्य है, उसे प्राप्त होने वाले ये शरीर नाशवान् हैं। अतएव हे भारत! तू युद्धकर।

य एनंवेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

जो इस (आत्मा) को मारनेवाला मानता है एवं, जो ऐसा समझता है कि यह मारा जाता है, उन दोनोंको ही सच्चा ज्ञान नहीं है। (क्योंकि) यह आत्मा न तो मारता है और न मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचित्,
नायंः भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्य माने शरीरे ॥ २० ॥

यह आत्मा न तो कभी जन्मता है और न मरता ही है; ऐसा भी नहीं है कि यह (एक बार) होकर फिर नहीं होनेका; यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, एवं शरीरका वध हो जाय तो भी मारा नहीं जाता ।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

हे पार्थ ! जिसने इस आत्माको नित्य अनश्वर और अक्षय जान लिया है, वह किसीको कैसे मरवावेगा और कैसे किसीको मारेगा ?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा,
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रको फेंक कर दूसरा नया वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार जीव पुराने शरीरको त्याग कर दूसरा नया शरीर धारण करता है ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ।

इस आत्माको शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती पानी भिंगा या गला नहीं सकता और वायु सुखा भी नहीं सकती है ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

न कटनेवाला, न जलनेवाला, न भीगनेवाला, और न सूखने वाला है यह (आत्मा) नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽ यमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितु मर्हसि ॥ २५ ॥

आत्मा अव्यक्त[1], अचिन्त्य[2] और विकाररहित[3] है। इसलिये उसे इस प्रकारका समझ कर, उसका शोक करना तुझको उचित नहीं है।

अथचैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितु मर्हसि ॥ २६ ॥

यदि तू ऐसा मानता हो कि जीव बारबार जन्मता मरता है, तो भी हे महा बाहु! उसका शोक करना तुझे उचित नहीं।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे नत्वं शोचितु मर्हसि ॥ २७ ॥

क्योंकि जो जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है, और जो मरता है उसका जन्म निश्चित है; इस लिये (इस) अपरिहार्य बातका शोक करना तुझको उचित नहीं।

१—इन्द्रियोंको गोचर न होनेवाला। २—मनसे भी न जाना जाने वाला। ३—विकार ६ है, जायते, (जन्म) अस्ति (प्रकट) वर्द्धते (वृद्धि) विपरिणाम (विपरिणाम अपक्षीयते (अपक्षय) नश्यति (मरण), आत्मा इन सभोंमेंसे रहित होनेके कारण-विकार रहित है।

अर्जुनकी शिक्षा प्रार्थना।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

सब भूत प्रारम्भमें अव्यक्त; मध्यमें व्यक्त और अन्त (मरण) समयमें फिर अव्यक्त होते हैं, तो फिर हे भारत! इस स्वाभाविक क्रममें शोक किस बातका?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन,
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति,
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

कोई तो आश्चर्य (अद्भुत वस्तु) समझकर इसकी ओर देखता है, कोई सरीखा इसका वर्णन करता है, और कोई आश्चर्य समझ कर सुनता है। परन्तु (इस प्रकार देखकर, वर्णन कर और) सुनकर भी कोई आत्माको (तत्त्वतः) नहीं जानता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितु मर्हसि ॥ ३० ॥

आत्मा सर्वदा सबके शरीरमें अवध्य अर्थात् कभी भी वध न किया जानेवाला है, अतएव हे भारत! सब अर्थात् किसी भी प्राणीके विषयमें शोक करना तुझे उचित नहीं है।

मृत्युकी असत्यता

अर्जुनकी बातें सुनकर श्रीकृष्णके चेहरे पर हंसीका भाव प्रकट हुआ था, वह हँसी रसमय और प्रसन्नता पूर्ण थी। अर्जुनके भ्रमसे मानव जातिका पुराना भ्रम पहिचानकर अन्तर्यामी हँसे थे। वह भ्रम श्रीकृष्णकी ही मायासे उत्पन्न हुआ था; जगत्में अशुभ, दुःख और दुर्बलताको भोग और संयम द्वारा नाश करनेके लिये उन्होंने मनुष्यको इस मायाके वशीभूत किया है। प्राणकी ममता, मरनेका भय, सुख दुःखका अधीनत्व, और प्रिय अप्रियका ज्ञान इत्यादि अज्ञान अर्जुनकी बातोंमें पाये जाते हैं इसीको मनुष्यकी बुद्धिसे दूर करके जगत्को अशुभसे मुक्त करनेके लिये, उस शुभ कार्यके अनुकूल अवस्था लानेको श्रीकृष्ण आये हैं और गीता प्रकट करके जाते हैं। किन्तु पहले अर्जुनके मनमें जो भ्रम उत्पन्न हुआ था, उसका भोग द्वारा नाश करना था। अर्जुन श्रीकृष्णके सखा और मानव जातिके प्रतिनिधि थे, उन्हींको गीता प्रदर्शित होगी, वह श्रेष्ठ पात्र थे; पर अभी तक न तो मानव जाति ही गीताका अर्थ ग्रहण करनेमें योग्य हुई और न अर्जुनहीको सम्पूर्ण ज्ञान हुआ था। जो शोक, दुःख और कादरता अर्जुनके

मनमें उठी थी, कलियुगमें भी उसका मानव जाति भोग करती आ रही है। खृीष्टधर्म प्रेम आनयन कर, बौद्ध धर्म दयाका अनुसरण करके और इसलाम धर्म शक्तिका अनुसरण करके उस दुःख भोगको कम करता आया है। आज कलि-युगके अन्तर्गत पहले खण्डमें सत्ययुग आरम्भ होगा, भगवान फिर भारत और कुरु जातिके वंशजोंको गीताका उपदेश प्रदान कर रहे हैं। यदि उसे ग्रहण करने और धारण करनेमें हम समर्थ हों, तो भारतका और जगत्का मंगल सुनिश्चित फल है।

श्रीकृष्णने कहा कि, अर्जुन, तू पण्डितोंके समान पाप पुण्य-का विचार कर रहा है, जीवन मरणका तत्व कह रहा है, और यह प्रतिपादन करनेकी चेष्टा कर रहा है कि जातिका कल्याण और अकल्याण किसमें है ; किन्तु असली ज्ञानका परिचय तेरी बातोंमें नहीं पाया जाता ; वरं तेरा प्रत्येक कथन घोर अज्ञान-पूर्ण है। स्पष्ट बात कह कि, मैं दुर्बलहृदय, शोकसे कातर हुआ हूं, मेरी बुद्धि कर्तव्यसे विमुख हो गयी है ; ज्ञानीकी भाषामें अज्ञकासा तर्क करके अपनी दुर्बलताका समर्थन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। शोक तो मनुष्य मात्रके हृदयमें उत्पन्न होता है, मनुष्य मात्रका ही मरण और विच्छेद अत्यन्त भयंकर, है, जीवन महा मूल्यवान, शोक असह्य, और कर्त्तव्य कठोर है, मनुष्य-मात्र स्वार्थ-सिद्धिके अनुसार हर्ष करता, दुःख करता हंसता और कूदता है, किन्तु इन सब वृत्तियोंको कोई ज्ञानसे उत्पन्न नहीं कह सकता। जिनके लिये शोक करना अनुचित है, उन्हींके लिये

तू शोक कर रहा है । ज्ञानी लोग किसीके लिये भी शोक नहीं करते—न मरे हुए व्यक्तिके लिये और न जीवित व्यक्तिके लिये ही। ज्ञानी यह बात जानते हैं कि, मरण, विच्छेद और दुःख कुछ नहीं है, मैं अमर हूँ, मैं सनातन हूं; मैं आनन्द और अमृतकी सन्तान हूं, मैं जीवन मरणके साथ इस पृथ्वीमें लुक छिपकर तमाशा करता आ रहा हूं—प्रकृतिके विशाल नाट्य भवनमें हास्य पूर्ण अभिनय (नाटक) कर रहा हूं, शत्रु और मित्र तैयार करके युद्ध और शान्ति, कलह और प्रेमका रस चख रहा हूं । यह जो थोड़े दिनोंसे बचता आ रहा हूं, अगले दिन कल देहत्यागकर कहां जाऊँगा, इसे मैं नहीं जानता, यह मेरी अनन्त क्रीड़ामें एक मुहूर्त्त मात्र, क्षणिक खेल है, कई क्षणका भाव है । मैं था, मैं हूं, मैं रहूंगा—सनातन नित्य, अनश्वर—प्रकृतिका मैं ईश्वर हूं तथा जीवन मरणका कर्त्ता, भगवानका अंश, और भूत, वर्तमान, भविष्यका अधिकारी हूं । जिस प्रकार शरीरका बाल्य, यौवन और जरा है, उसी प्रकार देहान्तर प्राप्ति (शरीर त्यागकर दूसरा शरीर धारण करना) भी है—मरण नाम मात्र है, उसका नाम सुनकर मैं भय पाता और दुःखी होता हूं, वस्तुतः यदि मैं समझता तो न भय ही पाता और न दुःखी ही होता । यदि मैं बालकके जवान हो जानेपर मृत्यु समझकर कहता कि, अहा, मेरा वह प्रिय बालक कहां गया, यह जवान पुरुष तो वह बालक नहीं है, मेरा सोनेका चांद कहां गया,—तो मेरे इस व्यवहारको लोग हास्य जनक और घोर अज्ञता पूर्ण कहते ; क्योंकि यह अवस्था-

न्तर प्राप्ति यानी बालक से जवान और जवानसे वृद्ध होना प्रकृतिका नियम है, बालक शरीर और युवक शरीरमें एक ही पुरुष बाहरी परिवर्तनसे न्यारे स्थिर भावसे रहता है। ठीक इसी तरह ज्ञानी, साधारण मनुष्यको मृत्युमें भययुक्त और दुःखी देखकर हास्य जनक और घोर अज्ञता पूर्ण समझता है, क्योंकि देहान्तर प्राप्ति यानी एक शरीर त्याग कर और दूसरा धारण होना प्रकृतिका नियम है, स्थूल और सूक्ष्म शरीरमें एक ही पुरुष बाह्य परिवर्तनसे न्यारे स्थिर भावसे रहता है। मैं, अमृतका पुत्र हूं, कौन मरता है, कौन मारता है? मृत्यु मुझे स्पर्श नहीं कर सकती मृत्यु छूछी आवाज है, मृत्यु भ्रम है, वास्तावमें मृत्यु कुछ नहीं।

मात्रा *

पुरुष अमर है और प्रकृति चल है। चल प्रकृतिमें अचल पुरुष अवस्थित है। प्रकृतिमें अवस्थित पुरुष पाँचों इन्द्रियों द्वारा जो कुछ देखता, सुनता, सूंघता चखता और स्पर्श करता है, उसीका भोग करनेके लिये प्रकृति

---

* शांकर भाष्यमें 'मात्रा' शब्दका अर्थ 'मीयते एभिरिति मात्रा' किया है, अर्थात् जिनसे बाहरी पदार्थ पाये जाते है या ज्ञात होते हैं, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं। कुछ लोग मात्राका इन्द्रिय अर्थ न करके 'इंद्रियोंसे पाये जाने वाले शब्द रूप आदि ग्राह्य पदार्थोंको मात्रा कहते हैं, लोकमान्य तिलकने भी गीता रहस्यमें इसी अर्थका उल्लेख किया है।

में आश्रय करता है। मैं जो देखता हूं वह रूप है, सुनता हूं वह शब्द है, सूंघता हूं वह गन्ध है, चखता हूं वह रस है, और जो अनुभव करता हूं वह स्पर्श है। शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध ये सब तन्मात्र इन्द्रिय भोगके विषय हैं। छः इन्द्रियोंके मनका विशेष विषय संस्कार है। बुद्धिका विषय चिन्ता है। पंच तन्मात्रा एवं संस्कार और चिन्ता अनुभव और भोग करनेके लिये पुरुष और प्रकृतिका परस्पर संभोग और अनन्त क्रीड़ा है। यह दो तरहका है, शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध भोगमें सुख और दुःख नहीं है, पुरुषका सनातन स्वभाव सिद्ध धर्म आनन्द हीं है। अशुद्ध भोगमें सुख और दुःख है, शीतोष्ण, क्षुत्पिपासा, हर्ष शोक इत्यादि द्वन्द्व अशुद्ध भोगीको विचलित और क्षुब्ध करते हैं। कामना अशुद्धताका कारण है। कामी मात्र ही अशुद्ध हैं और जो निष्काम हैं वे शुद्ध हैं। कामनासे राग और द्वेष उत्पन्न होता, और राग द्वेषके वशीभूत हो पुरुष विषयमें आसक्त होता है; आसक्तिका फल बन्धन है। पुरुष विचलित और क्षुब्ध यहांतक है कि व्यथित और यन्त्रणाक्लिष्ट होकर भी आसक्तिके अभ्यास दोषसे अपने क्षोभ, व्यथा या यन्त्रणाके कारण का त्याग करनेमें असमर्थ है।

समभाव

श्री कृष्णने पहले आत्माकी नित्यताका वर्णन करके पीछे अज्ञानक बन्धन शिथिल करनेका उपाय दिखाया। मात्रा अर्थात् विषयका नानारूप स्पर्श, सुख, दुःख इत्यादि द्वन्द्वका कारण है। ये सब स्पर्श अनित्य हैं, उनका आरम्भ भी है और अन्त भी है। अनित्य समझ कर आसक्ति त्याग करना चाहिये। जो कोई अनित्य वस्तुमें आसक्त होता और उसके आगमनमें हृष्ट होता है, वह उसके नाश या अभावमें दुखी और व्यथित होता है। इस अवस्थाको अज्ञान कहते हैं। अज्ञानसे अनश्वर आत्माका सनातन भाव और अन्वय आनन्द घिर जाता है, केवल क्षणस्थायी भाव और वस्तुमें मत्त होकर रहता है, उसके नाशके दुःखसे शोक सागरमें निमग्न होता है। इस प्रकार आच्छन्न न होकर जो विषयके सब स्पर्शोंका सहनकर सके, अर्थात्, जो द्वन्द्व की प्राप्ति करके भी सुख-दुःख, शीत-उष्ण, प्रिय अप्रिय, मङ्गल-अमङ्गल और सिद्धि-असिद्धिमें हर्ष और शोकका अनुभव कर समान भावसे प्रफुल्ल चित्त और हास्य मुखसे ग्रहण कर सके, वही पुरुष राग द्वेषसे मुक्त होता और अज्ञानका बन्धन काट कर सनातन भाव और आनन्दकी प्राप्ति करनेमें समर्थ होता है,—अमृतत्वाय कल्पते।

समताका गुण

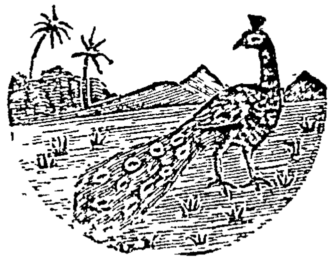
यह समता गीताकी पहली शिक्षा है। समता ही गीतामें वर्णित साधनकी स्थापना है। ग्रीक निवासी स्तोयिक सम्प्रदायने भारतसे इस समताकी शिक्षा प्राप्त करके यूरोपमें साम्यवादका प्रचार किया है। ग्रीक दार्शनिक एपिकुरसने श्रीकृष्णकी प्रचार की हुई शिक्षाका और एक ओर पकड़कर शान्त भोगकी शिक्षा Epicureanism या भोगवादका प्रचार किया। ये दो मत, साम्यवाद और भोगवाद प्राचीन युरोपके श्रेष्ठ नैतिक मत कह कर ज्ञात थे एवं आधुनिक यूरोपमें भी उसने नया आकार धारण करके Puritanism और Paganism के चिर द्वन्द्वकी सृष्टि की है। किन्तु गीतोक्त साधनमें साम्यवाद और शान्त या शुद्ध भोग एक ही बात है। साम्य कारण है शुद्ध भोग कार्य है। समतासे आसक्ति नाश होती और राग द्वेष प्रशमित होता है आसक्तिके नाश एवं रागद्वेषके प्रशमनसे शुद्धता उत्पन्न होती है। शुद्ध पुरुषका भोग कामना और आसक्तिसे रहित अतः शुद्ध है। इसीसे समताका गुण तथा समता सहित आसक्ति और राग द्वेष एक आधार पर नहीं रह सकते। समता ही शुद्धिका बीज है।

दुःख जीतना ।

ग्रीसके स्तोयिक सम्प्रदाय वालोंने यह भूल की कि उन्हें दुःखके जीतनेका प्रकृत उपाय मालूम नहीं हुआ। उन्होंने दुःख निग्रह करके, छिपा करके, तथा पद दलित करके दुःख जीतनेकी चेष्टा की थी। किन्तु गीतामें एक जगह कहा गया है कि, 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।' सब प्राणी अपनी अपनी प्रकृतिका अनुसरण करते हैं, निग्रह क्या होगा? दुःख निग्रहसे मनुष्यका हृदय शुष्क, कठोर और प्रेम शून्य हो जाता है। दुःखमें न रोना, यंत्रणा बोध स्वीकार न करना, "यह कुछ नहीं" कहकर चुप चाप सहन करना, स्त्रीका दुःख, बच्चेका दुःख भाईका दुःख, जातिका दुःख, शान्त चित्तसे देखना आदि भाव बल दृप्त असुरोंकी तपस्याका महत्त्व है, मानव जातिके उन्नति साधनमें इसका प्रयोजन भी है किन्तु यह दुःख जीतनेका प्रकृत उपाय नहीं है। दुःख जीतनेका प्रकृत उपाय ज्ञान, शान्ति और समता है। शान्त भावसे सुख दुःख ग्रहण करना ही प्रकृत मार्ग है। प्राणमें सुख दुःखका संचार वारण न करना, बुद्धिको स्थिर करके रखना चाहिये। क्षमताका स्थान बुद्धि है प्राण और चित्त नहीं। बुद्धि सम होनेसे चित्त और प्राण स्वयं ही सम हो जाता है; प्रेम इत्यादि प्रकृतिसे उत्पन्न प्रवृत्ति सूख नहीं जाती,

मनुष्य पत्थर नहीं होता जड़ और असाड़ नहीं होता । प्रकृतिं यान्ति भूतानि—प्रेम इत्यादि प्रवृत्ति प्रकृतिकी सनातन प्रवृत्ति है, उसके हाथसे रक्षा पानेका एक मात्र उपाय परब्रह्ममें लय होना है । प्रकृतिमें रहकर प्रकृतिका वर्जन करना असम्भव है । यदि कोमलताका त्याग किया जाय तो कठोरता हृदयको घेरेगी—यदि बाहरमें दुःखका स्पन्दन निषेध किया जाय तो दुःख भीतरमें जा विराजेगा एवं अलक्षित भावसे प्राणको सुखा देगा । इस तरह संकीर्ण साधनसे उन्नतिकी सम्भावना नहीं है। तपस्यासे शक्ति होगी अवश्य किन्तु इस जन्ममें जो छिपाया जायगा, दूसरे जन्ममें वह सब रुकावटोंको नष्टकर दुगुनी तेजीसे प्रकट होगी ।

(असम्पूर्ण)



भारतीय पुस्तक

नियम और सूचनाएं।

१—पुस्तकोंका दाम नगद लिया जाता है और बिकी हुई पुस्तकें वापस नहीं ली जातीं।

२—एक साथ २०) या इससे अधिकको पुस्तकें लेनेवालोंको उचित कमीशन दिया जाता है। बीस रुपये या इससे अधिकको पुस्तकें मंगानेवालोंको चौथाई रुपया पेशगी भेजना चाहिये।

३—बाहरके ग्राहकोंको पुस्तकें वी० पी० द्वारा भेजी जाती हैं। पर एक रुपयेसे कमकी पुस्तकें डाकव्यय अधिक पड़नेके कारण वी० पी० से नहीं भेजी जातीं। एक रुपयेसे कमकी पुस्तकें मंगानेवालोंको डाकव्यय सहित उतनेही मूल्य का टिकट आर्डरके साथ भेजना चाहिये।

४—आठ आना जमा देनेपर स्थायी ग्राहक बनाये जाते हैं। उसके नियम "स्थायी ग्राहकोंके नियम" शीर्षकमें पढ़िये!

५—हमारे यहाँ हिन्दीकी प्रायः सब प्रेसोंकी उत्तमोत्तम पुस्तकें मिलती हैं।

६—पत्रोत्तर चाहनेवालोंको दो पैसेका टिकट अवश्य भेजना चाहिये।

७—आर्डर भेजनेके बाद एक सप्ताहतक यदि पुस्तकें न जायं तो ग्राहकोंको दूसरा पत्र लिखकर पूछना चाहिये। पता साफ साफ लिखना चाहिये।

एजेंसीके स्थायी ग्राहकोंके लिये नियम।

१—जिनकी इच्छा हो एकवार आठ आना भेजकर अपना नाम आजन्मके लिये स्थायी ग्राहकोंमें लिखा सकते हैं। किन्तु यह आठ आना वापस नहीं दिया जाता।

२—ग्राहकोंको एजेंसीकी प्रकाशित पुस्तकें पौने मूल्यमें दी जाती हैं डाक व्यय ग्राहकोंको देना पड़ता है।

३—आर्डर भेजते समय ग्राहक नम्बर लिखकर भेजनेसे बाहरी पुस्तकोंपरभी एक आना रुपया कमीशन काट दिया जाता है किन्तु दस रुपयेसे कम आर्डरपर नहीं।

४—ग्राहक होनेवालोंको नीचेके फार्मपर सही करके आठ आनेके साथ भेजना चाहिये।

मैनेज़र भारतीय पुस्तक एजेंसी,

११, नारायणप्रसाद बाबू लेन, कलकत्ता।

महोदय !

मैं आपके यहाँके स्थायी ग्राहक होनेके लिये आठ आना भेजता हूं। मेरा नाम ग्राहक श्रेणीमें लिखा लीजिये।

भवदीय—

ता............ नाम.........................

पूरा पता————————

————————